

उपवास का
धार्मिक एवं वैज्ञानिक
विश्लेषण

लेखक एवं समीक्षक
“उपाध्याय कनकनंदी”

०८=त्यांगना नारायण खांड जाती लोक प्राप्ति

उपवास का

धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

चातुर्वास स्थल:-
प.पू. आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव
श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर
मु.पो.ता.-विजय नगर, जिला साबरकांठा
(ગुजरात) पीन-383460
Mob. 94267-54321, 94270-58376
94273-59903

खंड्या

6

16

38

46

56

59

64

73

75

76

87

02

06

A. समाजिक उत्तराधार समाजीकीय की प्रति । निक
B. उपवास के चारों दिन इसी
C. उपवास के चारों दिन इसी
D. उपवास के चारों दिन इसी
E. उपवास के चारों दिन इसी
F. उपवास के चारों दिन इसी
लेखक एवं समीक्षक
“उपाध्याय कनकनंदी”

धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन ग्रन्थांक=76

उपवास का धर्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण

लेखक एवं समीक्षक	- उपाध्याय कनकनंदी गुरुदेव
आशीर्वाद	- गणधराचार्य कुन्तुसागर जी गुरुदेव
सहयोगी	- मुनि श्री कुमार विद्यानंदी, मुनि श्री गुमिनंदी। आर्थिका राजश्री, आर्थिका क्षमाश्री।।
सम्पादक मण्डल	- श्री प्रभात कुमार जैन (एम.एस.सी. रसायन प्रवक्ता) मुजफ्फरनगर। श्री रघुवीर सिंह जैन (एम.एस.सी.एल.एल.बी.) मुजफ्फरनगर श्री मुशीलचन्द जैन (एम.एस.सी. भौतिकी) बड़ौत।
कार्याध्यक्ष	- श्री भैंवरलाल जी पटवारी (बिजौलियां)
मंत्री	- श्री गुणपाल जैन (मु.न. इंजिनीयर)
प्रकाशन संयोजन	- श्री नेमीचन्द काला, जयपुर।
द्रव्यदाता	- स्व.राजेन्द्र जैन की पुण्य स्मृति में धर्मपत्नी सरला रानी जैन के पुत्र योगेश जैन, संजय जैन, अशोक जैन 1 बी 32 तलवन्डी कोटा (राज.)
सर्वाधिकार	- सुरक्षित लेखकाधीन
प्रथम संस्करण	- 1995
मूल्य	- रु. 15/-
प्रतियां	- 1101
प्रकाशन एवं प्राप्ति	- 1. धर्म दर्शन विज्ञान शोधप्रकाशन बड़ौत (यू.पी.), मुजफ्फरनगर 2. नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर-3 (राज.)
स्थान	- नव अल्पना प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, मोदीखाना, जयपुर-3 (राज.)
मुद्रण कार्य	द्वारा

विषय सूची

अध्याय	अनुक्रमणिका	पृष्ठ संख्या
प्रथम प्राक्-कथनम् (उपवास का हृदय)	6	
उपवास से तनमनात्मा की निरोगता	16	
प्रोष्ठोपवास करने की विधि	38	
द्वितीय उपवास में कर्तव्य विधि	46	
A. प्रोष्ठोपवासी पूर्ण अहिंसाब्रती	56	
तृतीय प्रोष्ठोपवास के अतिचार	59	
चतुर्थ उपवास का फल	64	
A. समाधिपूर्वक उपवास से सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति	73	
B. उपवास से चाण्डाल देव हुआ	75	
C. उपवास से लकड़हारा सम्राट चन्द्रगुप्त हुआ	76	
D. उपवास से दुर्गन्धा का अभ्युदय	87	
E. बृहत् बारह भावना	102	
F. आदर्श जीवन	106	

श्री राजेन्द्र कुमार जैन

जन्म : 1 जनवरी, 1938

स्वर्गवास : 3 फरवरी, 1994.

शतमगढ़ निवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी के सुपुत्र स्वर्गीय श्री राजेन्द्र जैन का जन्म शेरगढ़, जिला मधुरा में सन् 1938 में हुआ था। आपके बाबा ने देव-दर्शन के नियम के पालन हेतु वहां जैन-मन्दिर की स्थापना करवाई थी। आपके पिताजी एक प्रमुख स्वतन्त्रता सेनानी थे तथा जिले के चेयरमेन भी रहे। आपके माता-पिता प्रबल धार्मिक प्रवृत्ति के थे। आपकी माताजी तन, मन, धन से दान करती थी व उन्हें 'अन्नपूर्णा' की उपाधि मिली हुयी थी।

राजेन्द्र जी का लालन-पालन राजकुमारों की भाँति हुआ व अपने पूर्वजों के संस्कार उनमें पूर्ण रूप से आये थे। चार वर्ष की अल्पायु में भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान उन्होंने गाँधी जी को अपने गले में पड़ी सोने की चेन उतार कर दे दी थी। आपकी शिक्षा कोटा व आगरा में हुई तथा 22 वर्ष की आयु में समान विचारों वाली, धार्मिक प्रवृत्ति की जीवन संगीनी संरला जैन (इन्दौर निवासी) से विवाह सम्पन्न हुआ। काँग्रेस सेवा दल के कर्मठ सदस्य होने के नाते आपने विदेशी कपड़ों का त्याग कर दिया था तथा खादी ही धारण करते थे। पार्टी सदस्य के नाते आपने विदेश यात्राएँ भी की, किन्तु धर्म के विपरीत कोई अचरण नहीं किया।

आपने रावतभाटा (राज. एटामिक पावर प्रोंजेक्ट) में स्वाध्याय भवन तथा औषधालय का निर्माण प्रारंभ करवाया। सार्वजनिक व गृहस्थ जीवन में जरूरतमंद व दुःखी प्राणियों की सेवा करना आपका प्रमुख ध्येय रहा। आपने कई गरीब बच्चों को छाँत्र वृत्ति देकर उनकी पढ़ाई करवाई। अनेक प्याऊ इत्यादि खुलवाई। आप त्यागीवृत्ति के महापुरुषों की दिल से सेवा करते थे। आप निजी जीवन में अत्यन्त धार्मिक, सरल व हँसमुख प्रवृत्ति के थे व प्रति दिन बारह भावनाओं का चिन्तन तथा आ.विमल सागर जी महाराज द्वारा दी गयी पुस्तकों का बराबर अध्ययन करते थे। आपके परिवार में तीन पुत्र (निजी व्यवसाय) व तीन पुत्रियाँ (दो अविवाहित) हैं।

मैं एलाचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव तथा समस्त मुनि संघ की बहुत आभारी हूँ जिनके प्रवचन व दर्शनमात्र से मेरे हृदय में यह भाव आया कि श्री जैन साहब की स्मृति में गुरुदेव द्वारा लिखित साहित्य को छपवाऊं।

वास्तव में गुरुवर अथाह धर्म रूपी समुद्र से भरे हुए है- मेरे जीवन को इसकी सिर्फ एक बूँद ही प्राप्त हुयी है। मैं गुरुवर से यही आवीश चाहती हूँ कि मुझे सदैव आपका समागम तथा आशीर्वाद मिलता रहे, ताकि बचा हुआ जीवन कर्म बन्धनों से मुक्त हो जावे।

श्रीमती सरला रानी जैन

1. एक बार खावे सो योगी, दो बार खावे सो भोगी।
तीन बार खावे सो रोगी, बार बार खावे सो मसाण के भागी।
2. समत्वं योगमुच्यते।
साध्यभाव को योग (ध्यान) कहते हैं।
3. तपः सूते महत्कलम्।
तपस्या महान् फल को देती है।
4. त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।
त्याग से अविछिन्न शान्ति मिलती है।
5. तपसा धुणङ्ग पुराणपावगं।
तपस्या प्राचीन पाप को धो डालता है।
6. स्वर्गमोक्ष नयति इति विनयः।
जो स्वर्ग एवं मोक्ष को ले जावे वह विनय है।
7. मनोऽक्षकायाणं निरोधनात् तपः।
मन, इन्द्रिय एवं काय का निरोध (संयम) तप है

प्राक् कृथनम् (उपवास का हृदय)

प्रायः प्रत्येक धर्म, जाति, देश में चिकित्सा प्रणाली में उपवास की परम्परा है और उसके महत्व को स्वीकार किया गया है। उपवास का अर्थ न केवल भोजन त्याग करना है, न केवल स्वास्थ्य रक्षा के लिये उपयोगी है परन्तु भोजन के साथ-साथ क्रोधादि भाव, तनाव, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, आरंभ, परिग्रहादि त्याग करके आत्म-चिन्तन, तत्त्व-चिन्तन, धर्म-ध्यान करने से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक रोग दूर होते हैं। परन्तु वर्तमान में जो उपवास की प्रणाली है, उसमें अनेक भ्रान्तियाँ, अनेक त्रुटियाँ एवं अनेक रूढ़ियाँ हैं। जिससे उपवास से तो कम व्यक्तियों को कम लाभ होता है परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को अधिकांशतः हानि ही होती है। इसलिए मैं विभिन्न आयुर्वेद, प्रांकृतिक-चिकित्सा, धर्मशास्त्रों का अध्ययन करके एवं अनुभव से इस 'उपवास का धार्मिक एवं वैज्ञानिक विश्लेषण' नाम की कृति का संकलन एवं सृजन किया है।

स्व-शक्ति, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार उपवास की अवधि एवं उसका बाह्य आवलम्बन अलंग-अलग होते हुए भी उपवास का उद्देश्य या फल एक ही है जो कि भाव की विशुद्धता है। इस भाव विशुद्धता से ही पाप का संवर तथा निर्जरा होती है, जिससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है। भाव विशुद्धि के बिना केवल आहार त्याग करने से आध्यात्मिक स्वास्थ्य एवं मानसिक स्वास्थ्य की उपलब्धि तो बहुत दूर है परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य की भी प्राप्ति नहीं होती है परन्तु और भी हानि होती है।

उपवास की अवधि में धार्मिक कार्य यथा-पूजा, अभिषेक, आहार दान, स्वाध्याय, ध्यान, तप, जपादि करना चाहिये परन्तु सांसारिक कोई भी कार्य नहीं करना चाहिये। दान, पूजादि के लिये भाव शुद्धि के साथ-साथ शारीरिक शुद्धि भी चाहिये। शारीरिक शुद्धि के लिये प्रासुक शुद्ध जल का प्रयोग करना चाहिए। मुख-शुद्धि भी शारीरिक शुद्धि के अन्तर्गत है। इसलिए मुख-शुद्धि भी करना चाहिए परन्तु मुनि, आर्यिका, क्षुलिकादि उपवास के दिन मुख शुद्धि नहीं कर सकते हैं। हाँ, यदि कोई गृहस्थ-उपवासी समस्त संकल्प-विकल्प और आरंभ, परिग्रह को

त्याग करके एकान्त में लीन रहता है तो वह बाह्य पूजा, दानादि नहीं कर सकता है इसलिये उसे स्नान, मुख-शुद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यदि ऐसा तपादि नहीं करता है और शरीर, मुख-शुद्धि करके आहार दान, पूजादि नहीं करता है तो उसका उपवास भी यथार्थ नहीं है।

उपवास के समय में आहार दान के लिए तो श्रावक पानी लाना, खाना पकाना, मन्दिर तथा चौका की शुद्धि करना, चौका एवं मन्दिर के बर्तन साफ करना आदि कार्य कर सकता है परन्तु गृह सम्बन्धी, आरंभ, परिग्रह सम्बन्धी कार्य यथा-कपड़ा धोना, झाड़ लगाना, आग जलाना, व्यापार करना, खाना पकाना, अश्लील सिनेमा, टी.वी. देखना, ताश खेलना, गप्प लगाना, शरीर को श्रृंगारित करना आदि नहीं करना चाहिये। उपवास के समय अधिक से अधिक धार्मिक कार्यों को अप्रमाणी होकर करना चाहिये। उपवास की अवधि में रात्रि को अधिक शयन करने का भी निषेध है। परन्तु अभी देखने में आता है कि अधिक उपवास के समय में रात की तो बात छोड़ो, दिन को भी लेटे (शयन) रहते हैं, गप्प लगाते हैं, गृहकार्य भी करते हैं। यहां तक कि कुछ व्यक्ति तो ताश तक खेलते हैं किन्तु ऐसे व्यक्ति भी दान, पूजादि के लिए मुख-शुद्धि के निमित्त, मुख में पानी डालने को उपवास भंग मानते हैं। यह तो एक प्रकार से लकीर के फकीर बनना है।

स्वशक्ति के अनुसार भोजन के सांथ-साथ विषय, कषाय, आरंभ, परिग्रह को त्याग कर ज्ञान, ध्यान, तप के द्वारा आत्मा के पास उपवेशन करना स्थिर रहना उपवास है। इसलिये भोजन त्याग को जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व विषय, कषायादि के त्याग के माध्यम से आत्मा के पास पहुंचना, धर्मध्यान करना है। यदि अधिक उपवास करने से शरीर, इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं जिससे धार्मिक कर्तव्यों का निरतिचार पालन नहीं होता है तो अधिक उपवास न करके शक्ति के अनुसार ढूँढ़ करना चाहिये, जिससे शरीरादि धार्मिक कार्य करने के लिये अधिक सक्रिय एवं समर्थ बने क्योंकि आहार त्याग का मुख्य उद्देश्य है विशेष धर्मध्यान कूरना। यदि धर्मध्यान उपवास में नहीं होता है तो वह उपवास उद्देश्य एवं फलहीन हो जाता है और शरीर इन्द्रियाँ एवं स्मरण शक्ति भी शिथिल हो जाती है, ऐसी परिस्थिति में योग्य सात्त्विक आहार करके धर्मध्यान में लगे रहना अधिक श्रेयस्कर है।

सम्यक् उपवास का, बहुआयामी उद्देश्य, फल एवं उपयोगिता है। हर समय

भोजन करने से पाचन तंत्र को भोजन पचाने में ही सतत् कार्य करना पड़ता है, जिससे उसे विश्राम के लिये अवसर नहीं मिलता है इसके कारण पाचन तंत्र दुर्बल एवं अस्वस्थ हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप् अपच, अग्निमांद्य, गैस्ट्रोबल, पेटदर्द, पेटफूलना, कब्जियत आदि अनेक रोग उत्पन्न होकर और भी अनेक रोगों को उत्पन्न करते हैं। यथा-स्मरण शक्ति की कमी, मन्द बुद्धि, आलस्य, मोटापा, खट्टी डकार, छाती में दर्द, वातरोग आदि-आदि।

भोजन पचाने के लिए पाचन तंत्र को सक्रिय होना पड़ता है, जिसके लिए उसे शक्ति की आवश्यकता पड़ती है उस शक्ति की आपूर्ति के लिए रक्त का बहाव पाचन तंत्र की ओर अधिक होता है। इसलिए भोजन के बाद क्लिष्ट विषयों का अध्ययन एवं कठिन कार्य करने के लिए निषेध किया गया है। इसलिए जो अधिक, बार-बार भोजन करता है वह शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ रहता है एवं मन्द बुद्धिवाला होता है। क्योंकि मस्तिष्क की तरफ का रक्त भी पाचन तंत्र में अधिक चला जाता है, जिससे मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है एवं बुद्धि कम हो जाती है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि अधिक भोजन करने से आयु भी कम हो जाती है। क्योंकि भोजन को पचाने में अधिक शक्ति खर्च हो जाती है जिससे आयु कम हो जाती है। इसलिए दीर्घ आयु के लिए पौष्टिक आहार करना चाहिए परन्तु बार-बार भोजन नहीं करना चाहिये। पौष्टिक सात्त्विकाहार से ऊर्जा तो मिलती है परन्तु बार-बार भोजन पचाने में जो शक्ति की क्षति होती है वह नहीं होती है जिससे आयु बढ़ती है। इस वैज्ञानिक शोध में भी कुछ सत्य-तथ्य है। जैन कर्म सिद्धान्तानुसार भुज्यमान आयु में वृद्धि नहीं होती है परन्तु कुछ बाह्य विपरीत कारणों से अकाल मृत्यु भी हो सकती है। इस सिद्धान्तानुसार सात्त्विक-पौष्टिक-सन्तुलित आहार कम बार करने से भले आयु नहीं भी बढ़े परन्तु इससे जीवनी-शक्ति शिथिल नहीं होती होगी एवं ऊर्जा की व्यर्थ क्षति नहीं होती होगी, जिससे आयु का सन्तुलन नहीं बिगड़ता है। आगम, प्रत्यक्ष, अनुमानादि से सिद्ध होता है कि निम्न श्रेणी के जीव अधिक खाते हैं एवं उच्च श्रेणी के जीव कम खाते हैं। जैसे- वनस्पति, कीट, पतंगादि जन्म से लेकर मृत्यु तक सतत् खाते रहते हैं। उच्च श्रेणी के पशुपक्षी कुछ समय खाते हैं और कुछ कुछ समय मध्य-मध्य में आहार नहीं करते हैं। मनुष्य पशु से भी कम खाता है। मनुष्य में भी पुण्यवान् जीव कम खाते हैं। कर्मभूमियाँ जीवों से भी भोग भूमियाँ जीव कम खाते हैं। जघन्य भोग भूमियाँ जीव एक दिन के बाद औँवला के बराबर अमृतमय भोजन करते हैं एवं एक पल्योपम आयु निरोग

पूर्वक जीते हैं। मध्यम-भोग-भूमिज-मनुष्य दो दिन के बाद हरड़ के बराबर अमृतमय भोजन करते हैं और दो पल्योपम आयु निरोगपूर्वक जीते हैं। उत्तम भोग भूमिज मनुष्य तीन दिन के बाद बहेड़ा के बराबर अमृतमय भोजन करते हैं और तीन पल्योपम आयु निरोग पूर्वक जीते हैं। स्वर्ग में तो और भी आयु की अवधि उत्तरोत्तर अधिक बढ़ती जाती है तथा उसके अनुपात से भोजन की मात्रा कम होती जाती है एवं भोजन लेने की अवधि भी बढ़ती जाती है। देव बाहर से भोजन ग्रहण (कवलाहार) नहीं करते हैं परन्तु उनके कण्ठ से ही अमृत बहुत वर्षों के बाद झरता है और उससे वे तृप्त होकर दीर्घ काल तक जीवित रहते हैं। केवलज्ञान होने के बाद जीव, शरीर धारी होता हुआ भी कवलाहार नहीं करता हुआ भी करोड़ों वर्ष भी जी सकता है। सिद्ध भगवान् तो समस्त आहारों से रहित होकर अनन्त समय तक परम स्वास्थ्य को प्राप्त करके परमामृत सुख का सेवन करते रहते हैं।

गुरु की उपस्थिति में गुरु से नियम लेकर आशीर्वाद प्राप्त करके एवं उनसे यथार्थ विधि को जान करके उपवास करना चाहिये। कुछ लोग धारणा के दिन, रात तक टूंस 2 कर खाते हैं एवं पारणा के दिन सूर्योदय के पहले ही भोजन कर लेते हैं। उत्कृष्ट उपवास में तो धारणा एवं पारणा के दिन एक-एक बार ही भोजन करना चाहिए। परन्तु जो उत्कृष्ट उपवास नहीं करता है उसको भी सूर्योदय के 48 मिनट पहले भोजन से निवृत्त हो जाना चाहिए तथा सूर्योदय के 48 मिनट बाद ही भोजन या कुछ भी खाना चाहिए। देवपूजा एवं गुरु (मुनिराजों) को आहार दान देने के बाद पारणा करना चाहिए। पारणा में स्वप्रकृति के अनुसार भोजन करना चाहिए। पारणा में मिर्च, मसाला, उष्ण प्रकृति के भोजन, खट्टी चीज आदि प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। तरल सुपाच्य, सन्तुलित भोजन करना चाहिए। शक्ति की कमी से उपवास के मध्य में यदि पानी लेना है तो उसकी छूट भी नियम लेते समय ही रखना चाहिए। बिना छूट रखे, पानी लेना दोष है। उपवास को प्रदर्शन का विषय नहीं बनाना चाहिए। उपवास से मेरा नाम हो ऐसी भावना नहीं भाना चाहिये एवं उसके लिये भी कुछ आडम्बर नहीं करना चाहिये। पारणा या उद्यापन के उपलक्ष्य में आहार दान, ज्ञानदान, औषधदान, मन्दिरों को उपकरण दानादि तो करना चाहिए परन्तु सामान्य गृहस्थ को प्रसिद्धि के लिए बर्तन आदि नहीं देना चाहिए।

पूजा आदि के लिए स्नान आदि करना चाहिए। योग्य वस्त्राभूषण भी धारण

करना चाहिए परन्तु श्रृंगार नहीं करना चाहिए। वर्तमान में देखने में आता है कि दिखावा के लिए, सुन्दरता के लिए उपवास के समय अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक श्रृंगार करते रहते हैं। इससे उपवास की भावना, पवित्रता में शिथिलता आती है एवं दोष लगता है।

कोई-कोई एकाशन (ब्रत) करते हैं। इसमें दिन में एक ही आसन में बैठकर एक बार ही भोजन किया जाता है एवं पानी पीया जाता है परन्तु लोग एकाशन में 2-3 घण्टा बैठकर भोजन करते रहेंगे। वहाँ ही बैठ बैठकर एक बार पेट भर भोजन करने के बाद कुछ समय (एकाध घण्टा) के बाद पुनः भोजन कर लेंगे या पानी पी लेंगे। कुछ महिलायें एवं पुरुष तो खड़े हुये बिना, खिसक खिसक कर इधर-उधर जायेंगे, वस्त्र धोयेंगे वर्तन साफ करेंगे पुनः भोजन कर लेंगे या पानी पी लेंगे। यह नाटक 2-3 घण्टों तक चलता रहेगा। उनका मत है जब तक खड़े नहीं होते हैं तब तक कुछ भी कर सकते हैं एवं मध्य-मध्य में भोजन या पानी, दूध आदि लेने पर भी एकाशन हो जाता है, कोई दोष नहीं लगता है। परन्तु यही व्यक्ति मानते हैं कि भोजन के पहले दान, पूजादि के लिये भी मुख शुद्धि के लिये भी मुख में पानी डालने से एकाशन टूट या गल जाता है। यह तो रूढ़ि की भी दादी है। एकाशन में भी उपवास के यथायोग्य कर्तव्य पालन् करना चाहिये।

पहले बताया गया था कि बाह्य एवं आन्तर के भेद से तप के दो भेद हैं। (1) अनशन (उपवास) (2) अवमौदर्य (स्वल्पाहार, भूख से कम खाना) (3) वृत्तिपरिसंख्यान (भोजन सम्बन्धी तृष्णा का नियंत्रण) (4) रसपरित्याग (अस्वाद ब्रत, रसलालसा को क्षीण करना) (5) विविक्त शश्यासन (आध्यात्म सिद्धि के लिए निर्जन अर्थात् एकान्तवास) (6) कायक्लेश (आत्म कल्याण में शरीर का उपयोग, शारीरिक सुखाभिलाषा का त्याग) ये बाह्य तप के भेद हैं। (1) प्रायश्चित्त (दोषों का परित्याग करना) (2) विनय (पूज्य पुरुषों से नम्र व्यवहार करना) (3) वैयाकृत्य पूज्य पुरुषोंकी सेवा शरीर, भोजनादि से करना) (4) स्वाध्याय (आत्म कल्याण के लिए सत् साहित्यों का अध्ययन करना) (5)व्युत्सर्ग (अहंभाव, ममत्वादि का विसर्जन) (6) ध्यान (चित्त के विक्षेप का त्याग करके चित्त को आत्मा में लगाना) ये अन्तरंग तप है। पहले यह भी बताया गया था कि अन्तरंग तप की सिद्धि के लिए बहिरंग तप किया जाता है। ये सर्व तप परस्पर अन्तः सम्बन्धी हैं। जिस प्रकार बहिरंग तप से अन्तरंग तप उत्कृष्ट है उसी प्रकार पूर्व-पूर्व तप से उत्तरोत्तर

तप श्रेष्ठ है। इसलिये शास्त्रों में इस का क्रम उपर्युक्त प्रकार से रखा गया है। प्रायश्चित्तादि ग्रन्थ में उपवास को प्रायश्चित्त की प्रथम इकाई के रूप में स्वीकार किया है। प्रायश्चित्त ग्रन्थ में कहा गया है कि श्वासोच्छवास प्रक्रिया से 108 बार णमोकार मंत्र जप करने का जो फल है वह फल एक उपवास का है। तप की उत्तरोत्तर प्रकृष्टता उपवास से प्रारम्भ होकर ध्यान में समाप्त होती है। परन्तु पंचम काल की अपेक्षा 'स्वाध्यायः परम तप' है। क्योंकि इसकाल में उत्तम संहननादि के अभाव से उत्तम ध्यान नहीं हो सकता है। भगवती आराधना, अनगार धर्मामृतादि ग्रन्थ में कहा गया है कि-

शमयत्युपवासोत्थवातपितप्रकोपजा: ।
रूजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते ।(25)।

उपवास के द्वारा वात-पित कुपित हो जाने से उत्पन्न हुए रोग अल्पाहार से शान्त हो जाते हैं तथा परिमितभोजी प्रकाशस्वभाव परमात्म तेज को अथवा श्रुतज्ञान को प्राप्त करता है।

धर्मावश्यक	योगेषु	ज्ञानादावुपकारकृत् ।
दर्पहारीन्द्रियाणां	च	ज्ञेयमूनोदरं तपः ।(22)।

'यह ऊनोदर तप धर्म, आवश्यक कर्तव्य, ध्यान और ज्ञानादि की प्राप्ति में उपकारी होता है तथा इन्द्रियों के मद को दूर करता है।'

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि उपवास से वात-पित का भी प्रकोप हो सकता है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो सकती है परन्तु अल्पाहार से वे सब समस्यायें समाधान हो जाती हैं। जो उपवास तप करने में समर्थ नहीं है वह भी अल्पाहार तप कर सकता है। परन्तु बार-बार इतना भी अल्पाहार नहीं करना चाहिये जिससे कुपोषण हो जावे एवं शरीरादि रोगग्रस्त हो जावे। कुछ लोग तो उपवास कर लेते हैं परन्तु अन्य समय टूँस-टूँस कर खाते रहते हैं जिससे प्रमाद एवं रोग हो जाते हैं। थोड़ा-सा भी भोजन कम होने पर दुःखी, अशान्त एवं विक्षुब्ध हो जाते हैं। भोजन करते हुये भोजन की आसक्ति-तृष्णा/लालसा नहीं करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। क्योंकि आसक्ति/राग/ममत्वादि परिणाम ही बन्ध के लिए कारण है। प्रायः देखने में आता है कि उपवास एवं ऊनोदर तप करने वाले भी भोजन में गृद्धता रखते हैं। अधिक गरिष्ठ एवं रसयुक्त भोजन से इन्द्रियां मत्तहस्ति के जैसे उत्थ्रृंखल

हो जाती है। एक साथ विरोधी रसों के सेवन से भी वान्ति (वमन) पेट में दर्द आदि रोग हो जाते हैं। जैसे दूध के साथ दही-मट्ठा, नमक, तेल, गुड़, खट्टी चीज (खट्टा रस) आदि विरुद्ध रस है। इसलिये इसका एक साथ सेवन नहीं करना चाहिये। कुछ उपवासादि करने वाले भी भोजन के समय रसलोतुपी दिखाई देते हैं। इच्छित रस नहीं मिलने पर क्रोधित होते हैं, भोजन बनाने वाली मां, बहिनादि को गाली तक देते हैं, बर्तन फेंक देते हैं। इस ही प्रकार कुछ जो रस त्याग भी करते हैं वे भी अन्य रस या भोजन में लोलुपी होकर उपर्युक्त क्रियायें करते हैं। असन्तुलित अधिक उपवास या रसत्याग से शारीरिक शक्ति, मानसिक-शक्ति, स्मरण-शक्ति, विवेक-शक्ति, सहन-शक्ति की कमी तथा ज्ञानवाही तंत्रिका का तंत्र की क्षमता कम हो जाती है जिससे मनुष्य चिड़चिढ़ा, असहनशील हो जाता है। इसीलिए रसत्याग भी शक्ति के अनुसार विवेक पूर्वक करना चाहिये। न अतिप्रणित बाजीकरण रस सेवन करना चाहिये, न अति रुखा, सूखा, निरस भोजन करना चाहिये। उपर्युक्त तर्पों के माध्यम से मन एवं इन्द्रियों को स्वास्थ्य एवं संयमित करके एकान्त, प्रशान्त, पवित्र, प्रशस्त शुद्ध वातावरण में रहकर आत्म चिन्तवन, स्वाध्याय, मनन, धर्मध्यान, ज्ञानाराधना करना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त एकान्त स्थान में वायु प्रदूषण, शब्द प्रदृष्णण, भाव प्रदूषण नहीं होने के कारण शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य उत्तम रहता है एव आध्यात्मिक साधना में प्रयोगरत्ता आती है। जैन तीर्थकर, पैगम्बर मोहम्मद ईसा मसीह, ऋषि तापस, महात्मा बुद्ध आदि ने एकान्त में ही अपनी-अपनी साधना की सिद्धि की थी। प्राचीन गुरुकुल, आधुनिक कुछ विद्यालय, चिकित्सालय, वैद्यशाला, वैज्ञानिक प्रयोगशाला आदि शहर के कोलाहल से दूर होते हैं। अनेक वैज्ञानिक दार्शनिक चिन्तक भी एकान्त में रहकर सत्य का शोध-बोध करते हैं। कुछ उपवासादि तप को करने वाले भी भीड़ को पसंद करते हैं, भीड़ जुटाते हैं और उस भीड़ में विकथादि करके अपनी शक्ति एवं समय का दुरुपयोग करते रहते हैं। केवल एकान्त में रहना तप नहीं है परन्तु एकान्त में रहकर आत्मा को परिष्कृत करना तप है, नहीं तो जो डाकू, चोर, आतंककारी, हिंसपशु एकान्त में रहते हैं वे भी तपस्वी हो जायेंगे। आत्मकल्याण के लिये शरीर का पूर्ण उपयोग करना 'कायक्लेश तप' है। जो उपवासादि तप करते हुये भी शरीरासक्त रहेंगे वे अन्यान्य धार्मिक कार्य करने में कठरायेंगे। शरीर के राग से कर्मबंध भी होता है। जैसे जो खेल में बहुत दौड़-धूप करेंगे वे भी अपने छोटे-छोटे दैनिक कर्तव्य में परावलम्बी रहेंगे।

जिस अन्तर्गत तप के लिये बहिंग तप किया जाता है उस अन्तर्गत तप

का प्रथम भेद प्रायश्चित्त है। जब तक जीव सर्वज्ञ, वीतरागी नहीं बन जाता है तब तक कुछ न कुछ छोटे-बड़े दोष होना स्वाभाविक है। दोष होने पर भाव दूषित हो जाता है, कर्मबंध हो जाता है और प्रज्ञापाराध हो जाता है। जिससे अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोग हो जाते हैं। इसलिये उपर्युक्त हनियों से बचने के लिये सरल-सहज भाव से स्व-साक्षी पूर्वक तथा पर (गुरु) साक्षी पूर्वक दोषों को स्वीकार करके उसका परिमार्जन करना चाहिये। इसको धर्म शास्त्र के साथ-साथ आयुर्विज्ञान, मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा, प्राकृतिक-चिकित्सा, दण्ड विधानादि ने भी स्वीकार किया है। उपवासादि बहिंग तप से भी प्रायश्चित्त तप महान् है। जो उपवासादि करते हुये भी दोषों का परिमार्जन करने के लिये प्रायश्चित्त नहीं करते हैं उनके बहिंग तप अधिक गुणकारी नहीं हैं।

पूज्य पुरुष, पूज्य गुणों में आदर भाव होना, नग्न व्यवहार करना विनय तप है। साधारण व्यक्ति, विनय भी एक महान् अंतर्गत तप है, यह न ही जानते हैं न ही मानते हैं। उन्हें तो यह अशर्च्य होता है कि विनय तप कैसे है? परन्तु जैन धर्म में विनय की महान् महिमा कही गयी है। कुन्द-कुन्द देव ने कहा है कि-

विनय मोक्षद्वारं विणयेण संयम तपो णाणं।

विणयेण विष्पुक्तस्स कुदो तपो कुदो णाणं।

विनय मोक्ष का द्वार है। विनय से ही संयम, तप और ज्ञान यथार्थ है। जो विनय से रहित है उसके तप कहां है? ज्ञान कहां है? विनय स्वयमेव अंतर्गत महान् तप है, संयम ज्ञानादि की वृद्धि के लिए कारण है, मनुष्य के लिए महान् आध्यात्मिक आभूषण है। परन्तु अन्यान्य तप करते हुए भी कुछ व्यक्ति अनग्र, अशालीन, उदण्ड हठग्राही, अभद्र पाये जाते हैं।

गुरु, गुणी, धार्मिक व्यक्तियों की सेवा तन, मन, वचन, भोजन, औषधादि से करना वैयावृत्त है, जीवों को नहीं मारना निषेधात्मक अहिंसा (दया) है, तो जीवों की सेवा करना विधि परक अहिंसा है। इससे दया, नप्रता, वात्सल्य भाव, निरहंकारता, प्रेम, संगठन बढ़ता है इससे दूसरों के प्रति हमारी कर्तव्य निष्ठा, संवेदना, सह-अस्तित्व, सहकार भाव बढ़ते हैं और यह सब भाव परिवर्तन में हमें भी मिलते हैं। इससे तीर्थकर पुण्यकर्म का बन्ध भी होता है। शरीर निरोग, सुन्दर एवं बलिष्ठ होता है और परभव में भी निरोग, सुन्दर शरीर मिलता है। इस तप के कारण ही भीमसेन को बलिष्ठ शरीर मिला था, वासुदेव को सुन्दर शरीर मिला था। भगवती

आराधना में कहा गया है कि स्वाध्याय करने वालों से भी श्रेष्ठ वैयावृत्त करने वाला है। साधारण लोग वैयावृत्य को तप ही नहीं जानते और न ही मानते हैं। कुछ लोग तो इसे गरीबों का पेशा (नौकरी) मानते हैं। उपवासादि करेंगे, दान में रुपये देंगे परन्तु सेवा करने में कठरायेंगे या इसे हीन दृष्टि से देखेंगे।

सत् साहित्यों का आत्म कल्याण के लिये अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से हिताहित का विवेक होने से, अहित का परिहार होता है, हित का ग्रहण होता है। स्वाध्याय से क्षयोपशम बढ़ता है जिससे ज्ञान बढ़ता है, भावों में निर्मलता आती है भोग, विषय, कथाय दूषित भाव से जीव बचता है। स्वाध्याय में शरीर स्थिर रहता है, चक्षु शब्द देखने में लीन रहती है, कर्ण शब्द श्रवण में प्रवृत्त होता है, मन तत्व चिन्तन में लीन रहता है। इसलिये स्वाध्याय को परम तप कहा है और इससे असंख्यात् गुणी पाप कर्मों की निर्जरा होती है एवं सातिशय पुण्य कर्म का बन्ध भी होता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति अन्य साधारण व्यक्ति से अधिक विवेकी, शालीन, नम्र, सरल, सत्याग्रही, धर्मशील, पापभीरु होता है। परन्तु अभी देखने में अधिकांश व्यक्ति स्वाध्याय करते हुये भी असंयमी, लोभी, कुटिल, कुर्तर्की, हठग्राही पाये जाते हैं। जैसे-भोजन पाचन के बिना अहितकारी हो जाता है उसी प्रकार वाचना (स्वाध्याय) पाचन (आचरण) के बिना अहितकारी हो जाता है।

अहंकार, ममकार, संकल्प, विकल्प, कर्त्तापन का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। तप, दान, पूजादि करके भी उसमें अहंकारादि नहीं करना, धनादि के कारण न मद करना, न उसमें लालसा रखना व्युत्सर्ग तप है। यदि तपादि करते हुये अहंकारादि त्याग नहीं करते हैं तो वे तप केवल ढोंग बाह्य आडम्बर, क्रियाकाण्ड हो जायेंगे। जैसे-विषधर सर्प केवल काँचली त्याग करता है, विष त्याग नहीं करता है। उसी प्रकार अन्तरंग विशुद्धि के बिना बाह्य त्याग, तप व्यर्थ है।

उपर्युक्त बहिरंग, अन्तरंग तप के माध्यम से जब भाव विशुद्ध हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है तप ध्यान होता है। ध्यान में न बाह्य द्रव्यों का कुप्रभाव रहता है, न अन्तरंग कुभावों का प्रभाव रहता है। इसलिये मन भी शान्त, निर्मल होकर स्थिर हो जाता है। इस ध्यान के माध्यम से ही जीव समस्त द्रव्य-कर्म एवं भाव-कर्मों को नष्ट करके सिद्ध, बुद्ध, अनन्त सुखी हो जाता है। यदि अन्यान्य तप करते हुए भी यदि मन यथायोग्य स्थिर, शान्त (ध्यान) नहीं हुआ तो जानना

चाहिये कि वह तप, यथार्थ से तप नहीं था केवल तपाभास था। ध्यान से अन्यान्य तपों का अन्तः परीक्षण होता है। ध्यान तपों के मापदण्ड है परन्तु बकों के जैसे ध्यान का ढोंग रखना ध्यान नहीं है। ध्यानी के बाह्य आचरण, व्यवहार में भी ध्यान की सुगन्धी आती है। जैसे ध्यानी, गम्भीर, शान्त, क्षमावान्, दयावान्, सरल, निर्भीक, सौम्य, साम्यभावी होगा।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता कि तपस्वी भोजन, रस, जनसम्पर्क, शरीर से लालसा/राग/इच्छा/आर्कषण हटाता हुआ दोषों को दूर करता है, विनम्र व्यवहार करता है, सेवाब्रत स्वीकार करता है, स्वाध्यायशील होता है, निष्कामी, निरहंकारी होता है एवं मन को संयमित करके आत्मा में यथायोग्य स्थिर रहता है।

शास्त्र में जो कुछ वर्णन है वह वर्णन मध्यम प्रणाली से होने से अन्य बहुत कुछ विषय उसके अन्तर्गत होते हैं। इच्छाओं का निरोध करना, कर्मों को तपाना, आत्मा को पवित्र करना, यह सभी तप होने से इन सब उद्देश्यों से जो कुछ किया जाता है वहें सब तप ही है। इसलिये मौन रहना, विकथा नहीं करना, लोभ नहीं करना, संग्रह नहीं करना, शोषण नहीं करना, दूसरों की निन्दा नहीं करना, दूसरों की उत्त्रति को देखकर डाह नहीं करना, धर्म एवं ज्ञान प्रचार के लिए तन-मन-धन समय से सहकर करना, गरीब, दुःखी, रोगी आदि का निस्वार्थरूप निर्देष सेवा करना आदि भी तप है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के अर्थभार का वहन श्रीमति सरला रानी एवं उनके सुपुत्रों ने किया है। उन्हें मेरा धर्म वृद्धि आशीर्वाद। लेखन कार्य में मेरी धार्मिक शिष्या यथा कु. आरती, कु. संगीता, कु. मैना, कु. सीमा जैन बी.ए. का योगदान रहा है। उन्हें भी मेरा आशीर्वाद। कार्यकर्ता नेमीचन्द्र काला आदि को भी मेरा शुभाशीर्वाद।

भव्य प्राणी इस पुस्तक का अध्ययन करके तप के द्वारा आत्मा को तपाते हुये संसार सागर से तर जावें ऐसी शुभ भावना के साथ.....

उपाध्याय कृनकृनन्दी

उपवास से तन्मनात्मा की निरोगता

अनुभव एवं आगम से सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव सुख चाहता है एवं दुःख से दूर भागता है। सुख प्राप्त करने के जो विभिन्न उपाय हैं उसमें से सर्वश्रेष्ठ सार्वभौम, सार्वकालिक, साविदेशिक सच्चा उपाय है धर्म। क्योंकि जो जीवों को सर्व दुःखों से निवृत्त कराकर शाश्वतिक, अक्षय, अनंत, परनिरपेक्ष, स्वतंत्र, परमसुख में धारण कराये उसे धर्म कहते हैं अथवा प्रत्येक द्रव्य का जो स्व शुद्ध आत्म स्वभाव है वह उसका धर्म है इसलिये जीव का जो स्व शुद्ध आत्म स्वभाव है वह उसका धर्म है और उस शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति करना धर्म है और उस आत्म स्वरूप में ही अक्षय-अनंत सुख है। अतएव सिद्ध हुआ कि जीव का शुद्ध स्वरूप ही जीव का धर्म है और वही सुख है। इसको प्राप्त करने का उपाय है सत्य विश्वास, सत्य विज्ञान से युक्त होकर मन, इन्द्रियों को संयमित करके स्व-पर की रक्षा करते हुये जो आत्म कल्याण के लिये आचरण किया जाता है उसको सत्य आचरण कहते हैं। सत्य आचरण के विभिन्न भेद-प्रभेद होते हैं या विभिन्न कारणों से विभिन्न परिभाषायें होती हैं। यथा-संयम, त्याग, तप आदि आदि। परन्तु सबके उद्देश्य फल/लक्ष्य एक ही है वह है आत्मा को विशुद्ध करना या सुख प्राप्त करना। संयम, तप, त्याग, चारित्र में परस्पर अन्तः सम्बन्ध है अर्थात् जहाँ संयम होगा, वहाँ तप भी होगा, त्याग भी होगा, चारित्र भी होगा। इस ही प्रकार तपादि में भी जानना चाहिये।

इच्छाओं का/लालसाओं का/कामनाओं का/ बाह्य प्रवृत्तिओं का/दुष्प्रवृत्तिओं का/ खोटे भावों का/कषायों का, तनावों का, निरोध करना, हटाना/ दूर करना तप है अर्थात् उपर्युक्त वैभाविक भावों को आत्मा से दूर करके आत्मा को परिशुद्ध बनाना/ निर्मल बनाना/शान्त बनाना/सुखी बनाना/ समता से युक्त बनाना है। तप के सामान्यतः दो भेद हैं। यथा-(१) बहिरंग तप (२)अन्तरंग तप। अन्तरंग तप भाव की निर्मलता है। भाव की निर्मलता के लिये जो बाह्य आवलम्बन है उसे बाह्य तप कहते हैं। भाव निर्मल रूपी अन्तरंग तप के बिना, बाह्य तप यथार्थ से सच्चा तप नहीं है। पूर्वाचार्यों ने भी कहा हैं -

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचररस्त्वं,
माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्,
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपत्ते॥(३) (स्वयंभू स्तोत्र)

(हे कुन्तु जिनेन्द्र !) आपने आध्यात्मिक तप को बढ़ाने के लिये अत्यन्त दुश्चर बाह्य तप का आचरण किया और प्रारंभ के दो मलिन ध्यानों को छोड़कर अतिशय को प्राप्त उत्तर के दो ध्यानों में प्रवृत्ति की।

अनशन तप- तत्थचउत्थ-छट्टम्-दसम्-दुवालस-पक्ख-मास-उडु अयणसंवच्छेरेसू एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो। किमेसणं ? असण-पाण-खादिय-साद्धिं। किमट्टमेसो कीरदे ? पाणिंदियसंजमट्टं, भुत्तीए उहयं संजय- अविणाभावदंसणादो। ण च चउव्विह आहारपरिच्चायो चेवः अणेसणं, रागादीहि सह तच्चागस्य अणेसणभावब्धुवगमानो॥ (छक्खंडागम वगणा खंड ५,४,२६ पृ.५५)

उसमें चौथे, छठे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणा का त्याग करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणा का त्याग करना अनशन नाम का तप है।

शंका — एषण किसे कहते हैं

समाधान — अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इनका नाम एषण है।

शंका — यह किसलिये किया जाता है।

समाधान — यह प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम की सिद्धि के लिए किया जाता है। क्योंकि भोजन के साथ दोनों प्रकार के असंयम का अविनाभाव देखा जाता है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि चारों प्रकार के आहार का त्याग ही अनशन कहलाता है क्योंकि रागादिकों के त्याग के साथ ही उन चारों के त्याग को अनशन रूप से स्वीकार किया गया है।

अप्रवृत्तस्य	दोषेभ्यस्सहवासो	गुणः सह।
उपवासस्य	विज्ञेयो न	शरीरविशेषणम्॥६॥

उपवास में प्रवृत्ति नहीं करने वाले जीव को अनेक दोषं प्राप्त होते हैं और उपवास करने वाले को अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शरीर के शोषण करने को उपवास नहीं कहते।

तपो मनोऽक्ष कायाणं तपनात् सन्निरोधनात्।
निरुच्यते द्वगाद्यार्विभावायेच्छा निरोधनम्॥(2)

अ. धर्मा अ.7 पृ. 492

मन, इन्द्रियाँ और शरीर के तपने से अर्थात् इनका सम्यक् रूप से निवारण करने से सम्यकदर्शन आदि को प्रकट करने के लिये इच्छा के निरोध को तप कहते हैं।

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्पो नियमक्रिया॥(3)

अथवा रत्नत्रयरूप मार्ग में किसी प्रकार की हानि न पहुँचाते हुए ज्ञानावरण आदि का या शुभ-अशुभ कर्मों का निर्मूल विनाश करने के लिए जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय और मन के नियमों का अनुष्ठान है, करने योग्य आचरण को करने का और न करने योग्य आचरण को न करने का जो विधान है इसी का नाम तप है।

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरायस्य च।
तपसोवृथिदहेतुत्वात्स्यात्तपोऽनशनादिकम्॥(5)

अनशन अदि करने से शरीर और इन्द्रियों का दमन होता है, अशुभ कर्म भस्म होते हैं और अन्तरंग तप में वृद्धि होती है इसलिए अनशन आदि तप हैं।

कर्माङ्गतेजोरागाशाहनिध्यानादिसंयमा:।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्चतत्फलम्॥(7)

अनशन आदि करने से ज्ञानावरण आदि कर्मों की शरीर के तेज की, रागद्वेष की और विषयों की आशा की हानि होती है, उसमें कमी आती है, एकाग्रचिन्ता निरोध रूप शुभ ध्यान आदि और संयम होते हैं, दुःख को सहने की शक्ति आती है, सुख में आसक्ति नहीं होती, आगम की प्रभावना होती है अथवा ब्रह्मचर्य में निर्मलता आती है। ये सब बाह्य तप के फल हैं।

मनुष्य जीवन एवं मनुष्य शरीर का सदुपयोग आत्म कल्याण में है तथा इसका दुरुपयोग, निहित स्वार्थ सिद्धि में लगाने में एवं भोग विलास में लगाने में है। इसी आत्म कल्याण के लिए भोजन किया जाता है। अधम श्रेणी के व्यक्ति, खाने के लिए जीते हैं, मध्यम श्रेणी के व्यक्ति जीने के लिए खाते हैं एवं उत्तम श्रेणी के व्यक्ति ऐसा भोजन करते हैं जो धर्म साधना के लिये साधक बने, न कि बाधक

बने। कहा भी है —

वशे यशास्युरक्षाणि नोत धावन्त्यनूत्पथम्।
तथा प्रयतितव्यं स्याद्वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम्। क्षेपक
(अ. ध. श्लोक 9 पृ. 495)

आगम में कहा है कि शरीर रत्नत्रयरूपी धर्म का मुख्य कारण है। इसलिए भोजन-पान आदि के द्वारा इस शरीर की स्थिति के लिये इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये जिससे इन्द्रियाँ वश में रहें और अनादिकाल से सम्बद्ध तृष्णा के वशीभूत होकर कुमार्ग की ओर न ले जावें।

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः।

नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च संयमे॥(16) पृ. 499

यतः प्राणी आहारमय है अर्थात् मानो आहार से ही बना है। इसीलिये आहार छुड़ा देने पर उसे आर्त और रौद्रध्यान सताते हैं। अतः उसका मन न ज्ञान में लगता है, न संयम में लगता है।

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्याजितो हठात्।

नरो न रमते ज्ञानि दुर्ध्यानार्तो न संयमे॥ (17)

मनुष्यों का प्राण अन्न है यह कहावत प्रसिद्ध है। जबरदस्ती उस अन्न को छुड़ा देने पर खोटें ध्यान में आसक्त मनुष्य न ज्ञान में ही मन लगाता है और न संयम में मन लगाता है।

उपरोक्त श्लोक में लेखक ने अनुभव जन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। नीति वाक्य में भी कहा है —

“भूखे भजन न होय गोपाला, ले लो अपनी कण्ठीमाला।”
प्राचीन वाक्य भी कहा है —

“बुभुक्षु किम् न करोति पापम्।”

अर्थात् — भूखा व्यक्ति कौनसा पाप नहीं कर सकता अर्थात् वह सब तरह के पाप कर सकता है।

शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान के अनुसार जब पर्याप्त भोजन नहीं मिलता है तब शरीर में अनेक तत्वों की कमी हो जाती है, जिसके कारण मनुष्य के शरीर में एवं मन में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं एवं दुर्बलताएँ जन्म ले लेती हैं। ज्ञान तनु प्रभावित हो जाते हैं। कार्य क्षमता, वैचारिक शक्ति, सहनशीलता कम हो जाती

है। जिसके कारण जीव चिड़चिड़ा, कमजोर, अन्यमनस्क हो जाता है। इसलिए लोकोक्ति है-

“कम कुब्बत गुस्सा तेज”।

सुनने एवं पढ़ने में आता है जब कुत्तियाँ, सर्पिणी आदि कुछ माता सन्तान को जन्म देती हैं तब वह भूख के कारण स्व सन्तान को ही खा जाती हैं। मैंने कुछ किताबों में अध्ययन किया है कि दुर्भिक्ष के समय में मनुष्य भी मेरे हुये मनुष्य को खा लेते हैं। माँ भी मेरे हुये बच्चे को खा जाती है। यहाँ तक कि मनुष्य भी जीवित मनुष्य को खा लेता है।

पर्याप्त योग्य भोजन नहीं मिलने पर शारीरिक अनेक तत्वों की कमी से बुद्धि एवं विचार शक्ति भी क्षीण हो जाती है। मेरा खुद का अनुभव है कि मेरा अधिक अन्तराय होने पर या योग्य आहार नहीं मिलने पर न मैं स्वयं अध्ययन कर पाता हूँ न साधुओं को अध्यापन करा पाता हूँ। शरीर थका थका-सा रहता है, अध्ययन में मन नहीं लगता है और पढ़ाने की भी क्षमता नहीं रहती है। कम भोजन से, उपवास से, योग्य भोजन के अभाव से वात-पित्त कुपित हो जाते हैं। मेरा खुद का अनुभव है कि वर्तमान समय में जो अधिकांश कम उप्र वाले साधु हैं, जिनके अन्तराय हो जाता है जिसके कारण भोजन की कमी से वात-पित्त बढ़ जाते हैं, उल्टी हो जाती है व अल्सर रोग हो जाता है। यहाँ तक कि मेरे देखने में आया है कि शक्ति से अधिक उपवास करने से दृष्टि-शक्ति कम हो जाती है यहाँ तक कि कुछ व्यक्ति अंधे भी हो गये हैं। इतना ही नहीं कुछ व्यक्तियों को उपवास के बाद अधिक प्यास सताती है तथा कुछ व्यक्ति दीर्घकाल तक रोगग्रस्त रहते हैं। जिस प्रकार मुसीबत आने पर सगे-सम्बंधी अपना साथ नहीं देते हैं उसी प्रकार भोजन न मिलने पर शरीर भी हमारा साथ नहीं देता है। इसलिए शक्ति के अनुसार हित-मित ऋतु के अनुकूल भोजन करना एवं उस भोजन प्राप्त शक्ति के अनुसार आत्मकल्याण में लगे रहना इस पंचम काल में अधिक योग्य है। कहा भी है—

शमत्युपवासोत्थवातपित्त प्रकोपजा :

रूजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्च समश्नुते॥(25)

उपवास के द्वारा वात-पित्त कुपित हो जाने से उत्पन्न हुए रोग अल्पाहार से शान्त हो जाते हैं तथा परिमित भोजी प्रकाश स्वभाव परमात्मा तेज को अथवा श्रुतज्ञान को प्राप्त करता है।

नाक्षाणिप्रद्विषन्त्यन्त्रप्रतिक्षयभयान्त्रच ।

दर्पात् स्वरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यन्ति भृत्यवत्॥(24)

(अ.धर्मामृत, पृ. 503)

अल्प आहार से इन्द्रियाँ मानों उपवास से इन्द्रियों का क्षय न हो जाये, इस भय से अनुकूल रहती हैं और मद के आवेश में स्वच्छन्द नहीं होती हैं। किन्तु सेवक की तरह आज्ञानुसार ही चलती हैं।

आगम से ज्ञात होता है कि पंचम काल में शारीरिक शक्ति क्षीण रहती है, मन चंचल रहता है और शरीर अन्त्र का कीड़ा रहता है। इसलिए तो पंचमकाल में उत्कृष्ट तपस्या, अधिक उपवास, शुक्लध्यान आदि नहीं होते हैं। कहा भी है—

काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके ।

एतचित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नरां॥

कलिकाल है, चित्त चंचल है, देह अन्त्र का कीड़ा है तथापि जिनरूप को धारण करने वाले साधु विचरण करते हैं यह महान् आश्चर्य है। जैनाचार्य उग्रादित्य ने ‘कल्याण कारक’ में योग्य शरीर का वर्णन करते हुए कहा है—

स्थूलः कृशश्चाप्यतिनिदीयौ भाराश्वव्यानादिषु वर्जनीयौ ।

सर्वास्ववस्थास्वापि सर्वथेष्टः सर्वात्मना मध्यमदेह युक्तः॥(40)

(कल्याण कारक, पृ. 38)

स्थूल व कृश देह अत्यन्त निंद्य है एवं भार वहन, घोड़े की सवारी आदि कार्य में ये दोनों शरीर अनुपयोगी हैं। सर्व अवस्थाओं में, सर्व तरह से, सर्वथा मध्यम देह ही उपयोगी है।

स्थूलस्य काश्यं करणीयमत्र रुक्ष्यौषधैर्भोजनपानकाद्यैः ।

स्निग्धैस्तथा पुष्टिकरैः कृशस्य पथयैस्तदा मध्यमरक्षणं स्यात्॥(52)

सदा रुक्ष औषधि, भोजन पान आदि से स्थूल शरीर को कृश करना चाहिये, कृश शरीर को स्निग्ध तथा पुष्टिकर औषधि अन्नपानों से पुष्ट बनाना चाहिये और पथ्य सेवन से मध्यम देह का रक्षण करना चाहिये अर्थात् स्थूल व कृश होने नहीं देवें।

चतुर्थ काल में वज्र सम अस्थि, वज्र सम सन्धि, वज्र सम बंधन होते थे, प्रदूषण भी कम था, भोजन भी पौष्टिक, रसदार था, जलवायु अनुकूल थी। खटमल,

मच्छर (विकलत्रय जीव) कम प्रमाण में थे, जिसके कारण अधिक उपवास, रसत्याग आदि तपस्यादि करने पर उहें दुर्बलता नहीं आती थी, रोग नहीं होते थे। परन्तु वर्तमान पंचम काल में इससे विपरीत परिस्थितियाँ आदि हैं। इसलिए तो जैनागम में कहा है कि आतापन योग (सूर्य की ओर मुँह करके तपस्या करना) वर्षात्रात् में वृक्षमूल वास (वृक्ष के नीचे बैठकर पानी की बौछार सहते हुए तपस्या करना) शीतऋतु में खुले आकाश में रहकर तपस्या करना आदि क्लिष्टसाध्य तप निषेध है क्योंकि इससे संक्लेश एवं आर्तध्यान होने की अधिक संभावना रहती है। इसलिए कहा गया है —

‘शक्तिस्त्यागतपसी’। (तत्त्वार्थ सूत्र)

अर्थात् शक्ति के अनुसार त्याग करना चाहिये एवं शक्ति के अनुसार तपादि करना विधेय एवं हितावह है। कहावत है — “देखादेखी साधे योग, छिजे काया बाढ़े रोग”। अर्थात् जो दूसरों का अंधानुकरण करके प्रसिद्धि आदि के लिये योग (तप) साधता है तो उसे सिद्धि नहीं मिलती है परन्तु शरीर दुर्बल हो जाता है, रोग बढ़ते हैं। आगम में कहा है कि शक्ति से न कम तप करना चाहिए न शक्ति से अधिक तप करना चाहिए क्योंकि इससे मायाचारी, प्रमाद, आलस्य, भोगासक्ति, विलासिता आदि दुर्गुण जन्म लेते हैं और बढ़ते हैं। उत्पुरुक्त सर्व दुर्गुण ही पतन के लिये कारण हैं। बाह्य तप उतना तपना चाहिये जिससे संक्लेश भी न हो और अंतरंग की तपस्या में वृद्धि हो क्योंकि बाह्य तप तपने का उद्देश्य अंतरंग तप की वृद्धि करना है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है —

बाह्यं तपः परम दुश्चर माचरस्त्व—
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृहंणार्थम् ॥
(स्वयंभू स्तोत्र)

हे भगवान् ! आपने परम दुश्चर (कठिनता से आचरण योग्य) बाह्य तप को अंतरंग तपस्या की वृद्धि के लिये तपा है। इसलिये गुणभद्र स्वामी ने कहा भी है —

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान् ।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेद्यत्तदज्ञता ॥(212)
(आत्मानुशासनम् पृ. 196)

यदि तू कष्ट को न सहने के कारण घोर तप का आचरण नहीं कर सकता

है तो न कर। परन्तु जो कषायादिक मन से सिद्ध करने योग्य हैं जीतने योग्य हैं उन्हें भी यदि नहीं जीतता है तो वह तेरी अज्ञानता है। तपश्चरण में भूख आदि के दुःख को सहना पड़ता है, इसलिए यदि अनशन आदि तपों को नहीं किया जा सकता है तो न भी किया जाय। परन्तु जो राग, द्वेष एवं क्रोधादि आत्मा का अहित करने वाले हैं उनको तो भले प्रकार से जीता जा सकता है। कारण कि उनके जीतने में न तो तप के समान कुछ कष्ट सहना पड़ता है और न मन के अतिरिक्त किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा भी करनी पड़ती है। इसलिये उक्त राग-द्वेषादि को तो जीतना ही चाहिये। फिर यदि उनको भी प्राणी नहीं जीतना चाहता है तो यह उसकी अज्ञानता ही कही जावेगी।

भगवती आराधना (मुनि आचार संहिता) शास्त्र में कहा गया है कि जिस साधु की पित्त प्रकृति है, वे अधिक उपवासादि न करके अल्पाहार करें। क्योंकि उपवास करने से अधिक पित्त बढ़ जाता है तथा जठराग्नि भोजन के अभाव से मल को पचाती है और मल के अभाव से चर्बी को पचा देती है। एवं चर्बी के अभाव से रक्त, मांसादि को भी पचाने लगती है जिससे शरीर क्षीण, दुर्बल एवं अशक्त हो जाता है। इसी प्रकार प्यास लगने पर भी पानी नहीं पीने से जल की कमी हो जाती है, जल की कमी से कण्ठ, जिन्हा, ओठ, शरीर सूखने लगता है, रक्त संचालन ठीक तरह नहीं हो पाता है, शारीरिक मल की धुलाई भी अच्छी तरह नहीं हो पाती है। इसके साथ-साथ मूत्र गाढ़ा पीला, लाल हो जाता है एवं पेशाब में तकलीफ होती है। जननेन्द्रिय में पीड़ा एवं जलन होती है। उपरोक्त कारणों से शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग हो जाते हैं। जिससे ध्यान, अध्ययन नहीं हो पाता है संक्लेश परिणाम भी हो जाता है। आयुर्वेद शास्त्र में कहा भी है —

भोजनेच्छाविधातात्स्यांदगमर्देऽरुचिः श्रमः ।
तन्द्रा लोचनदौर्बल्यं धातुदाहो बलक्षया ॥

(यो. र. पृ. 65, श्लोक 101)

भोजन की इच्छा रोकने से हानि — भोजन की इच्छा होने पर भोजन न करने से अंगमंद (शरीर का टूटना), भोजन में अरुचि, थकावट, तन्द्रा (आलस्य), नेत्र में दुर्बलता, रसादिक धातुओं का दाह होना अर्थात् जठराग्नि द्वारा जलना और बल का क्षय होना ये सब होते हैं।

विधातेन पिपासायाः शोषः कण्ठास्योर्भवेत् ।

भ्रवणस्यावरोधश्च रक्षशोषो हृदि व्यथा ॥(102)

प्यास रोकने से हानि - प्यास लगने पर रोकने से (जल नहीं पीने से) कण्ठ और मुख सूखता है, कान में शब्द सुनाई नहीं पड़ते, रक्त सूखता है और हृदय में पीड़ा होती है।

भूख लगने पर भोजन नहीं करने से हानि - भूखा पुरुष जब अन्न नहीं खाता है तो उसकी जठराग्नि जिस प्रकार लकड़ी के बिना जलती हुई अग्नि मन्द हो जाती है। उसी प्रकार आहाररूपी लकड़ी के बिना जठराग्नि मन्द हो जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह नहीं समझना चाहिये कि उपवास आगम विरुद्ध है, परन्तु शक्ति के अनुसार उपवास करना चाहिये जिससे संक्षेप परिणाम न हो और ध्यान, अध्ययन ठीक चले, कर्तव्य पालन में बाधा न पहुंचे। उपवास करने से कफ प्रकृति वालों को तकलीफ नहीं होती, क्योंकि कफ प्रकृति, शीत प्रकृति है। उपवास से जठराग्नि भोजन को पचाने के बाद कफ को पचाती है जिससे कफ प्रकृति वालों का स्वास्थ्य और भी अच्छा हो जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार इसे (कफ को) श्लेष्मा कह सकते हैं। इस श्लेष्मा से अनेक रोग होते हैं इसलिये प्राकृतिक चिकित्सा में श्लेष्मा को दूर करने के लिये उपवास किया जाता है।

यहाँ उपवास के बारे में विशेष विचार करना है। उपवास का स्वरूप शास्त्र में निम्न प्रकार से कहा है —

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।

उपवासोऽशनस्वाद्य खाद्य पेयविवर्जनम् ॥(12)

अनगार धर्मा. पृ. 497

अपने-अपने विषयों से हटकर इन्द्रियों के गग-द्रेष से रहित आत्मस्वरूप में बसने अर्थात् लीन होने से अशन, स्वाद्य, खाद्य और पेय चारों प्रकार के आहार का विधि पूर्वक त्यागना उपवास है।

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।

वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरूपवामोऽभिधीयते ॥

जिसमें सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से निवृत होकर बसती हैं उसे विद्वान् उपवास कहते हैं।

उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।

उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥

दोषों से हटकर जो गुणों के साथ बसना है उसे उपवास जानना चाहिए। उपवास में समस्त भोगों का त्याग होता है।

इससे सिद्ध होता है कि केवल चार प्रकार के आहार का त्याग ही उपवास नहीं है परन्तु आहार के त्याग के साथ-साथ भोग, लालसा, कषाय, आरंभ, परिग्रह आदि को त्याग करके धर्मध्यान के माध्यम से आत्मा को निर्मल बनाना है। भोगादि के त्याग बिना जो केवल आहार का त्याग होता है उसको साधारण जन आयुर्वेद के अनुसार स्वास्थ्य सम्पादन के लिये लंघन कहते हैं। परन्तु ऐसा लंघन भी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उतना लाभकारी नहीं है जितना भोगादि त्याग पूर्वक उपवास है। उससे केवल शारीरिक शुद्धि नहीं होती है अपितु मानसिक एवं आध्यात्मिक शुद्धि भी होती है। इसीलिये सर्वांगीण लाभ के लिए भोगादि त्याग पूर्वक उपवास ही बहु उपकारी है। आयुर्वेद चिकित्सा में भी अनेक रोगों की चिकित्सा के पूर्व लंघन किया जाता है जिससे शारीरिक मल नष्ट होता है एवं रोग दूर होता है। यथा —

ज्वरादौ लंघनं शस्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम् ।

ज्वरांते रेचनं प्रोक्तमेतज्वरचिकित्सितम् ॥(1)॥

सार्थ योग र. पृ. 195

प्राणियों को जब ज्वर आता है, तब प्रथम लंघन देना प्रशस्त है। ज्वर के मध्य अवस्था में पाचन देना चाहिए तथा ज्वर की अंतिम अवस्था में रेचन देना आवश्यक है।

ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ।

क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥(2)

ज्वर आने के बाद प्रथम अवस्था में लंघन कहा है, परन्तु क्षय, वात, दोष, भय, क्रोध, काम, शोक और श्रम से आने वाले ज्वर को छोड़कर बाकी सब ज्वरों में लंघन देना हितकारक है।

आमाशयस्थो हत्वाऽग्निं सामो मार्गनिधायन्।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात् कुर्वीत लंघनम्॥(3)॥
प्रागपेषु ज्वारादौ वा बलं यत्नेन पालयन्।
बलाधिष्ठानमारोग्यमारोग्यार्थः क्रियाक्रमः॥(4)॥

आमाशय के दोष जठराग्नि का नाश करके आमदोषोंसह खोतों के मार्ग का आच्छादन करके ज्वर उत्पन्न करता है। इसीलिए लंघन करना योग्य है। ज्वर के प्रथम अवस्था में ज्वर के आरंभ में शक्ति का हास न करके लंघन करना हितकर है, कारण आरोग्य बल पर आधारित है। चिकित्सा (उपचार क्रम) आरोग्य के लिए की जाती है। इसीलिए मरीज की शक्ति की प्रयत्न से रक्षा करके लंघन देना आवश्यक है।

अनवस्थितदोषाग्रेलंघनं दोषपाचनम्।
ज्वरधनं दीपनं कांक्षारुचिलाघवकारणम्॥(5)॥

लंघन अव्यवस्थित (प्रकोपित) दोषों का पाचन करके दोषों को स्वस्थान में लाता है। जठराग्नि को प्रदीप करता है, ज्वर का नाश करता है, क्षुधा उत्पन्न करता है, गेहूं में रुचि उत्पन्न करता है और शरीर को हल्का बनाता है।

न लंघयेन् मारुतजे ज्वरे च क्षयोद्वचेच क्षुधितेच जंतौ।
न गुर्विणीदुर्बलं बालवृद्धान्भीतास्तृष्टार्तानपि सोर्धवातान्॥(6)॥

वातज्वरी मरीज, क्षय रोग में आने वाले ज्वरों में, झुके कमजोर हुए मनुष्य को, गर्भवती स्त्री को, बाल, वृद्ध, बलहीन, तृष्णित, भयग्रस्त और जिसको उर्ध्वपात है, इन सबके लिये लंघन वर्ज्य है।

दोषाणामेव सा शक्तिर्लंघने या सहिष्णुता।
नहीं दोषक्षये कश्चित्सहते लंघनं महत्॥(7)॥

लंघन सहन करना यह दोषों की शक्ति है, दोष क्षीण होने के बाद लंघन सहन नहीं होता।

वातजः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पित्तजः।
श्लेष्मज द्वादशाहेन ज्वरः पाकं प्रपद्यते॥(8)॥

वातज्वर सप्तरात्रि बीत जाने पर पक होता है। पित्त ज्वर, दशरात्रि और कफ बारह दिन बीत जाने पर पक होता है।

सर्वज्वरेषु दातव्यः कषाय सप्तमेऽहानि।
अथवा लंघयेत्तावद्यावदारोग्य दर्शनम्॥(12)॥
न कषायं प्रशसंति कदाचित्तरुणे ज्वरे।
कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सदुस्तरा:॥(13)॥

सब प्रकार के ज्वर में सातवें दिन काढ़ा देना ठीक है। अगर मरीज को आरोग्य प्राप्त होने तक अर्थात् ज्वर कम होने तक लंघन दिया जाए तो श्रेष्ठ है। कषायले औषध काढ़ा से क्षीण हो गए दोषों पर विजय प्राप्त करना कठिन है, इसीलिए युवा ज्वर में वैसा काढ़ा देना ठीक नहीं है।

लंघन के योग्य मनुष्य

मेहामदोषाति स्निधि ज्वरोस्तभकुलितः॥(10)॥
विसर्पविद्रधिपूर्णिहाशिरः कण्ठाक्षिरोगिणः।

स्थूलांश्च लंघेयत्रित्यं शिशिरेत्वपरानतिः॥(11)॥

लंघन के योग्य पुरुष प्रमेही रोगी, आम दोष रोगी, अतिस्निधि, ज्वर, अरुस्तम्भ, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, प्लीहारोगी, शिर, कण्ठ और आँख के रोगी तथा स्थूल पुरुष आदि को सब समय में लंघन कराना चाहिए। शिशिर काल में दूसरे पुरुष को भी लंघन कराना चाहिए।

शोधन का विवेचन

तत्र संशोधनेः स्थौल्यबलपित्तकफाधिकान्।
आमदोषज्वरच्छदिरती सारहदामयैः॥(12)॥

विबन्धगौरवे द्राहुल्लासादिभिरातुराम्।

मध्यस्थौल्यादिकान् प्रायः पूर्वं पाचनदीपनैः॥(13)॥

एभिरेवाभयैरातीन् हीनस्थौल्यबलादिकान्।

क्षुतृष्णानिग्रहेदोषिस्त्वार्तान् मध्यबलैर्दान्॥(14)॥

स्थूल, बल, पित्त और कफ की अधिकता वालों का संशोधन से लंघन कराये। आमदोष (अजीर्ण) ज्वर, वमन, अतिसार, हृदयरोग, निबन्ध, भारीपन, उद्तार में स्थूल या पित्त कफ में लंघन कराये। इन सब आमदोष रोगियों का तथा हीन स्थूलों या अल्पवृद्ध पित्त या कफ वालों को भूख और प्यास के रोकने पर लंघन कराना चाहिए। मध्यम बल वाले वात, पित्त, कफ दोषों से पीड़ित एवं दृढ़ शरीर वालों को वायु, धूप और व्यायाम से लंघन कराये तथा अल्पबल वाले पुरुषों

को भी वायु, धूप और व्यायाम से लंघन करना चाहिए।

न बृहलंघनीयान् बृहणांस्तु मृदु लंघयेत्।
युक्त्या वा देशकालादिवलतस्तान् पाचरेत्॥(15)॥

लंघन के योग्य (प्रमेहः आमदोषादि) पुरुषों को बृहण (अत्यधिक) नहीं करना चाहिए किन्तु बृहण के योग्य पुरुषों को मृदु लंघन करा सकते हैं अथवा देश, काल आदि के अनुरोध युक्तिपूर्वक (बिना लंघन कराये ही आवश्यकतानुसार सन्तर्पण असन्तर्पण का मिश्रित प्रयोग करते हुए) उनकी चिकित्सा करें।

लंघन का फल - इन्द्रियों की निर्मलता, मलों की प्रवृत्ति में लघुता, भोजन में रुचि, भूख और प्यास का एक साथ उत्पन्न होना, हृदय, उदातार और कण्ठ की शुद्धता रोग का हल्का होना, उत्साह होना और तन्द्रा का नाश ये सम्यक् लंघन करने पर होते हैं।

प्रायेणाऽहरवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति॥(1)॥

यो. र. पृ. 316

अजीर्ण की चिकित्सा— मनुष्यों को प्रायः करके आहार की विषयमत्ता (असमानता) से ही अजीर्ण का रोग उत्पन्न होता है और यह अजीर्ण ही रोग समूहों का मूल है इसी (अजीर्ण) के नष्ट हो जाने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं।

तत्राऽमे वमनं कार्यं विदग्धे लंघनं हितम्।
विष्टब्धे स्वेदनं शस्तं रसशेषे शयीत च॥(2)॥

आमाजीर्ण में गमन और विदग्धाजीर्ण में लंघन (उपवास) करना हितकर होता है, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन क्रिया करनी चाहिए और रसशेषाजीर्ण में शयन करना चाहिये।

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्रौ सुतरामुदराणि तु।
अजीर्णन्मलिनै श्वान्नर्जायन्ते मलसंचयात्॥(1) पृ.102

उदर रोग निदान— प्रायः करके सभी रोग मन्दाग्नि मूलक होते हैं उसमें भी उदर रोग तो अवश्य ही मन्दाग्नि मूलक होते हैं। उदर रोग-अजीर्ण से, मलिन (दूषित) अन्नों के खाने से तथा मल के संचय से भी होते हैं।

अनपेक्षित मात्रा लेने का परिणाम—

अनपेक्षितमात्रादि सेविते कुरुतस्तु ते॥(18)

मात्रा आदि का विचार न करके वृहण और लंघन करने से अतिस्थूलता और अतिकृशता आदि उत्पन्न हो जाते हैं।

अतिलंघन से होने वाले रोग—

अतिकाश्ये भ्रमः कासस्तृष्णाधिक्यमसेचकः।
स्नेहाग्निद्राहृष्टोशुकौजः क्षुतस्वक्षयः॥(29)॥
वस्तिहम्बूर्धंजोरुत्रिक पाश्वरस्त्वजा ज्वरः।
प्रलापोधवर्णनिलग्लानिच्छादिप वस्थिभेदनम्॥
वर्यामूत्रगृहथाश्र जायन्तेऽति विलंघनात्।

अतिशर्यादिरोग— अति लंघन करने से अतिकृशता, भ्रमकाश, तृष्णा की अधिकता, अरुचि, स्नेह, अग्नि, निद्रा, दृष्टि और श्रोत्र, शुक्र, ओज, भूख और स्वर का क्षय, वस्ति (पेड़ मूत्राशय) हृदय, गुर्दा, जंधा, अरु, त्रिक और पाश्वर में पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, ऊर्ध्व, वायु, ग्लानि, वमन, पर्व एवं अस्थियों के टूटने की-सी वेदना, मल और मूत्र का अवरोध (नामा प्रकार के वात रोग) होते हैं।

आहारं पचति शिखी दोषानाहरवर्जितः पचति।

दोषक्षये च धातून्पचति च धातुक्षये प्राणान्॥(105) यो.र.पृ.65

जठराग्नि भोजन किये हुये आहार को पचाती है, आहार नहीं रहने (मिलने) से वातादिक दोषों को पचाती है, दोषों का क्षय हो जाने पर रस-रक्तादि धातुओं को पचाती है और धातु के भी क्षय हो जाने पर प्राणों को पचाती है अर्थात् भूख लगने पर भोजन नहीं करने से प्राण तक नष्ट हो जाता है।

इसलिये तो मुमुक्षु श्रमण जो शरीर को भी परद्रव्य मानते हैं वे भी जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता तब तक आवश्यकतानुसार भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन से प्राप्त शक्ति को वे स्व- पर कल्याण में लगाते हैं। भोजन श्रमण क्यों ग्रहण करते हैं इसके कारण बताते हुये कहा है—

क्षुच्छमं संयमं स्वान्वैयावृत्यमसुस्थितिम्।

वांछन्नावश्यकं ज्ञानध्यानर्दीश्वाहरेन्मुनिः॥(61) अन.ध.पृ.408

भूख की वेदना का शमन करने के लिए, संयम की सिद्धि के लिये, अपनी

तथा दूसरों की सेवा के लिए, प्राण धारण के लिए तथा मुनि के छःआवश्यक कर्तव्य, ज्ञान, ध्यान आदि के लिये मुनि को आहार करना चाहिये।

मुनि के भोजन के छियालीस दोष, सोलह अन्तराय आदि बतलाने से भोजन कीट मनुष्यों को ऐसा लग सकता है कि इन्हें प्रतिबन्ध क्यों लगाये गये हैं? इसके लिए ही यह बतलाया है कि साधु के भोजन करने के उद्देश्य क्या हैं? वे जिह्वा या अन्य इन्द्रियों की त्रुप्ति और शरीर की पुष्टि के लिये भोजन नहीं करते, किन्तु संयम-ज्ञान-ध्यान की सिद्धि के लिए भोजन करते हैं। इन सबकी सिद्धि शरीर के बिना सम्भव नहीं होती और शरीर भोजन के बिना ठहर नहीं सकता। अतः शरीर को बनाये रखने के लिये भोजन करते हैं। यदि शरीर अत्यंत दुर्बल हो तो साधु अपना कर्तव्य कर्म भा नहीं कर सकता और यदि शरीर अत्यंत पुष्ट हो तो भी धर्म का साधन सम्भव नहीं है। मूलाचार में कहा भी है-मेरे शरीर में युद्धादि करने की क्षमता प्राप्त हो इसलिये साधु भोजन नहीं करते, न आयु बढ़ने के लिये, न स्वाद के लिये, न शरीर की पुष्टि के लिये, न शरीर की चमक-दमक के लिये भोजन करते हैं। किन्तु ज्ञान के लिए, संयम बढ़ाने के लिए और ध्यान के लिये ही भोजन करते हैं। यदि भोजन ही न करें तो ज्ञान-ध्यान नहीं हो सकता।

**बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शंक्याश्रापि तपस्विनाम्।(62)**

जिनकी इन्द्रियाँ भूख से शक्तिहीन हो गयी हैं वे अन्य प्राणियों की रक्षा कैसे कर सकते हैं? जो तपस्वी भूख से पीड़ित हैं उनके भी क्षमा आदि गुण शंकास्पद ही रहते हैं अर्थात् उनकी क्षमाशीलता में भी संदेह ही है। इसलिये क्षमा को वीर का भूषण कहा है।

**क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुद्धरः।
प्राणाश्राहरशणा योगकाष्ठा जुषामपि॥(63)**

जिस मनुष्य की शक्ति भूख से नष्ट हो गयी हो, वह अपनी तरह दुःख से पीड़ित दूसरे मनुष्य का उद्धार नहीं कर सकता। जो योगी, योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की चरम सीमा पर पहुँच गये हैं उनके भी प्राणों की शरण आहार ही है। वे भी आहार के बिना जीवित नहीं रहते, फिर योगाभ्यासियों का तो कहना ही क्या हैं?

**द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्वशुद्धाशनैः सुधीः।(65)**

विचारपूर्वक कार्य करने वाले साधु को द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति, हेमन्त आदि छह ऋतु, भाव और स्वाभाविक शक्ति का अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्य के लिए सर्वाशन, विद्वाशन और शुद्धाशन के द्वारा भोजन ग्रहण करना चाहिए।

साधु को द्रव्य आदि का विचार करके आहार ग्रहण करना चाहिए। द्रव्य से मतलब आहारादि से है। जो आहार साधुचर्या के योग्य हो वही ग्राह्य होता है। भूमि प्रदेश को क्षेत्र कहते हैं। भोजन, क्षेत्र के अनुसार होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार है- भूदेश अर्थात् क्षेत्र तीन प्रकार का होता है- जांगल, अनूप और साधारण। जहां पानी, पेड़ और पहाड़ कम हों उसे जांगल कहते हैं यह स्वल्प रोगकारक होता है। अनूप जांगल से विपरीत होता है और जहां जल आदि न अधिक हो, न कम उसे साधारण कहते हैं। जांगल में वात का आधिक्य रहता है, अनूप देश में कफ की प्रधानता रहती है और साधारण प्रदेश में तीनों ही सम रहते हैं। अतः भोजन में क्षेत्र का भी विचार आवश्यक है।

काल से मतलब छह ऋतुओं से है। ऋतुचर्या का विधान इस प्रकार किया है- शरद् और बसन्त ऋतु में रूक्ष और ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में शीत अन्नपान लेना चाहिए अन्य ऋतुओं में इसमें विपरीत अन्नपान लेना चाहिए। तथा मधुर, खट्टा, लवण, कटु, चरपरा, कसेला ये छह रस हैं, जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और उत्तरोत्तर कम-कम बलवर्धक हैं। अतः शीत और वर्षा ऋतु में आदि के तीन रसों का और बसन्त ऋतु में अन्त के तीन रसों का, ग्रीष्म ऋतु में मधुर का और शरद् ऋतु में मधुर, तिक्त और कषाय रस का सेवन करना चाहिए।

एषणा समिति से शुद्ध भोजन को सर्वाशन कहते हैं। गुड़, तेल, धी, दही दूध, सालन आदि से रहित और कांजी शुद्ध तक आदि से युक्त भोजन को विद्वाशन कहते हैं। जो पककर जैसा तैयार हुआ हो और किंचित् भी अन्य रूप न किया गया हो उस भोजन को शुद्धाशन कहते हैं। मूलाचार में कहा भी है- ‘एषणा समिति से विशुद्ध भोजन सर्वेषण है। निर्विकृत अर्थात् गुड़, तेल, धी, दूध, दही, शक आदि विकृतियों से रहित और कांजी-तक आदि से युक्त भोजन विद्वाशन होता है तथा कांजी-तक आदि से रहित, बिना व्यंजन के पककर तैयार हुआ जैसा का

तैसा भोजन शुद्धाशन है। ये तीनों ही प्रकार का भोजन खाने के योग्य है। जो भोजन सब रसों से युक्त है, सब व्यंजनों से सहित है वह कदाचित् योग्य और कदाचित् अयोग्य होता है।' यह मूलाचार की संस्कृत टीका में कहा है। उसी के आधार से पं. आशाधर जी ने कहा है-

यत्प्रतं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीवं त्रसै
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः।
युञ्जनुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भौगैश्च मिथ्यादृशम्॥(66)॥

जो भोजन आदि नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान करने वाले गृहस्थ के द्वारा अपने लिए बनाया गया हो और एकेन्द्रिय प्राणियों से रहित हो तथा मृत या जीवित दो इन्द्रिय आदि जीवों से भी रहित हो और नवधार्भक्ति पूर्वक दिया गयां हो, उस भोजनादि को अपने सुख और दुःख की निवृत्ति के लिए ग्रहण करने वाला साधु केवल अपना ही उद्धार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दृष्टि दाता को स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मी के योग्य बनाता है और मिथ्यादृष्टि दाता को इष्ट विषय प्राप्त कराता है।-

द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धों मोक्षाय निश्चितः॥(67)॥

द्रव्य से शुद्ध भी भोजन भाव के अशुद्ध होने से अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि अशुद्ध भाव, बन्ध के लिए और शुद्ध भाव, मोक्ष के लिए होते हैं यह निश्चित है।

विद्धति नवकोटि शुद्धभक्ताद्युपाजे
कृतनिजवपुषो ये सिद्ध्ये सज्जभोजः।
विद्धतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो-
प्रसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमद्धाः॥(61)॥

नव कोटि से विशुद्ध भोजनादि के द्वारा अपने शरीर को बल देने वाले और असाधारण उपशम भाव से सम्पन्न जो अतीत, अनागत और वर्तमान साधु सिद्धि के लिए उत्साह को साक्षात् समर्थ बनाते हैं, वे मुझे तत्काल आत्म स्वरूप की उपलब्धि करावें अर्थात् उनके प्रसाद से मुझे मुक्ति की प्राप्ति हो।

जिस प्रकार कृषक धान्य उत्पन्न करने के लिये खेती करता है, वह भूमि

को कर्षण करता है, बीज को वपन करता है, खाद देता है, पानी देता है परन्तु मध्य-मध्य में जमीन को शुष्क करने के लिए कुछ समय तक पानी नहीं देता है। जिससे खेती अच्छी होती है, उसी प्रकार साधक मोक्ष के लिये शरीर को माध्यम मानकर उसको कभी-कभी भोजन देता है और कभी-कभी उपवास करता है। अच्छी खेती में भी जब रोग हो जाता है तब खेती नष्ट होती है उसी प्रकार उपवास के समय में भी यदि क्रोध, मानादि रोग हो जाते हैं तब धर्म रूपी खेती नष्ट हो जाती हैं और संवर निर्जरा तथा मोक्ष रूपी धान्य प्राप्त नहीं होता है। कहा भी है-

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो
यदीच्छसि फलं तयोरिहि हि लाभपूजादिकम्
छिनत्सि सुतपस्तरो प्रसवमेव शून्याशयः,
कथं समुपलप्यसे सुरसमस्य पक्षं फलम्॥(189)॥

आत्मानुशासनम्

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकालं तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनों का फल तू यहां सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिये कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है-

ण हु दंडङ कोहाङ देहं दंडेऽ कहं खवङ कम्मं।
सप्पो किं मुवङ तहा वम्मीए मारिए लोए॥(70)॥

र्यणसार पृ.144

जो क्रोधादि कषायों का दमन नहीं करता, जो मात्र शरीर को उपवासादि तप करके दंड देता है, वह कैसे कर्मों का नाश कर सकता है ? उसी प्रकार लोक में वामी को मात्र कूटने से क्या सर्प मरता है ? नहीं मरता है।

उपसम तव भाव जदो वाणी सो भावसंजुदो होई।

वाणी कषाय वसगो असजदो होइ सो ताव॥(71)॥

जो उपशम, तप भाव युक्त है ऐसा वह ज्ञानी भाव संयुक्त होता है। ज्ञानी जब तक कषायों से युक्त होता है तब तक वह अंसयमी होता है।

तथा ऋतुमधीष्ठ शशवदिह लोकपंक्ति बिना,
शरीरमपि शोषय प्रथित कायसंक्लेशनैः।
कथायविषयद्विषो विजयसे तथा दुर्जयान्,
शमं हि फलमामन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः॥(190)

आत्मानुशा.

हे भव्य जीव ! तू लोकपंक्ति के बिना अर्थात् प्रतिष्ठा आदि की अपेक्षा न करके निष्कपट रूप से यहाँ इस प्रकार से निरन्तर शास्त्र का अध्ययन कर तथा प्रसिद्ध कायक्लेशादि तपों के द्वारा शरीर को भी इस प्रकार से सुखा कि जिससे तू दुर्जन कथाय एवं विषयरूपी शत्रुओं को जीत सके। कारण कि मुनिजन राग-द्वेषादि की शांति को ही तप और शास्त्राभ्यास का फल बतलाते हैं।

क्रोधादि कथाय से केवल तपादि व्यर्थ ही नहीं होते हैं परन्तु शारीरिक एवं मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं, वृद्धि को प्राप्त होते हैं, भोजन भी नहीं पचता है। आयुर्वेद में कहा भी है-

ईर्ष्याभिवक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन शुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सव्यमानमन्त्रं न सम्यक्पचते नरस्य॥(2)

यो.र.पृ.313

ईर्ष्या, भय, क्रोध, शोक, दरिद्रता और द्वेष इन कारणों से जिस मनुष्य का मन दुःखी रहता है उसका भी अन्न भली भाँति नहीं पचता है।

मात्रया चाभ्यबहुतं पथ्यं चानन्तं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोध दुःखशय्या प्रजागैः॥(3)

और भी-चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दुःख, शय्या-सुख (बैठे या सोये रहना) और अधिक जागना इन कारणों से भी मात्रा के साथ पथ्य अन्न सेवन करने पर भी नहीं पचता है।

कामज्वर लक्षण-

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽलस्यस्यभोजनम्।
हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति॥(28)

मा.नि., ज्वर नि.

काम ज्वर में चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, भोजन की अनिच्छा, हृदय प्रदंग में वेदना तथा मुख का सूखना ये लक्षण होते हैं।

भयादिजन्यमागन्तु ज्वर—

भायात् प्रलापः शोकाच्य भवेत् कोपच्च वेपथुः।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते॥(29)
भूताषिङ्गादुद्वगो हास्यरोदनकम्पनम्।

(सु.उ.तं.अ.39)

भयज तथा शोकज ज्वर में प्रलाप होता है। क्रोधजन्य ज्वर में कम्पन होता है। अभिचार और अभिशाप जन्य ज्वर में मूर्छा तथा प्यास होती है, भूताभिषङ्ग ज्वर में कभी घबराहट, कभी हंसी और कभी रोने की प्रवृत्ति तथा कम्पन होता है।

कामशोक भयक्रोधेरभिषक्तस्य यो ज्वरः।

सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गः॥

अभिप्रेत कामिनी की अप्राप्ति से काम ज्वर उत्पन्न होता है। काम ज्वर से रोगी को गहरे-गहरे श्वास आते हैं तथा वह कुछ ध्यानमग्र-सा रहता है। इनके अतिरिक्त रोगी का धैर्य, लज्जा, निद्रा नष्ट हो जाती है, शरीर में दाह एवं भ्रंश होता है। वाघड़ ने भी कहा है—

कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो हीनिद्राधी घृतिक्षयः।

कामशोकभयाद्वायुः:

इस वचन के अनुसार काम, शोक और भय से वायु की वृद्धि होती है इस प्रकार शोकज और भयज ज्वर में वात का कार्य कलापों में मिलता है। यद्यपि कम्पन वात का कार्य है, वह पित्त के वर्द्धक क्रोध से उत्पन्न न होना चाहिये तथा पि क्रोध जन्य पित्त, वात को भी प्रकुपित करके इस लक्षण को उत्पन्न कर देता है। एकः प्रकुपितो दोषः सर्वनिव प्रकोपयेत्। इसके अतिरिक्त क्रोध से पित्त के समान वायु की भी वृद्धि होती है, क्योंकि विदेह ने कहा है—

‘क्रोधशोकौस्मृतौ वातपित्तरक्तप्रकोपणौ।’ कोपज ज्वर में शिरोवेदना भी होती है और नेत्र लाल रहते हैं।

क्रोधात्कम्पः शिरोरुक च प्रलापो भयशोकजः॥(वा.नि.)

शिरोरुगरुचिर्ध्यनं नेत्ररागश्च कोपने॥(सि.नि.)

यद्यपि भयज आदि सभी ज्वर मानसिक हैं किन्तु फिर भी चिकित्सा वैशिष्ठ के लिये प्रत्येक का वर्णन पृथक् किया गया है।

आगन्तुज्वर में दोषानुबन्धता —

क्रोधशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पितं त्रयो मलाः ।(30)

भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्य लक्षणाः ।

च.चि.अ.3

काम, शोक तथा भय से वायु का प्रकोप होता है, क्रोध से पित का प्रकोप होता है, भूताभिषङ्ग से तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं तथा तत्तद्भूत के लक्षण भी प्रकट होते हैं।

भोजन के साथ-साथ क्रोधादि का त्याग करना स्वास्थ्य के लिए हितावह है। यह आयुर्वेद का भी सिद्धान्त है। यथा

नवज्वरे दिवास्वापस्नान भोजन मैथुनम् ।

क्रोधप्रवात व्यायमः कषायांश्च विवर्जयेत् ।(1)

निवातभवने वासमुष्णावारिनिषेवणम् ।

अभूर्जिलं निष्क्रोधकामशोकं च रोगिणम् ।(2)

कुर्यादारोग्यसंपन्न शीघ्रं वैद्यो विचक्षणः ।

नवीन ज्वर में दिन में सोना, स्नान करना, भोजन करना, मैथुन करना, क्रोध करना, वायु में रहना, परिश्रम करना और कषाय औषध सेवन करना वर्जित है और ज्वरी जिस घर में वायु अधिंक नहीं जाता हो उस घर में रहे, उष्ण किया जल पीवे, अधिक न बोले, क्रोध, काम और शोक को न करे इन सब विधियों को करा-कर बुद्धिमान् वैद्य रोगी को आरोग्य कर देवे॥

नारायण कृष्ण ने गीता में कहा है कि जो योग्य आहार, विहार, विचार से युक्त होता है उस के सर्व दुःख नष्ट हो जाते हैं एवं वह सुख को प्राप्त करता है। यथा —

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वाप्नावबोधस्य योगोभवति दुःखहा ।(17)

पृ.74 गीता

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने जागने में परिमित रहता है उसका रोग, दुःख भंजन (नष्ट) हो जाता है।

नात्यशनतस्तु योगेऽस्ति न चैकान्तमनश्यतः

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रता नैव चार्जुनः ।(16)

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो प्राप्त होता है तुम्हार याते वाले को, न उपवासी को, वैसे ही वह बहुत सोने वाले या जागने वाले को प्राप्त नहीं होता।

युक्त आहार-विहार-विचार-उच्चार आदि से केवल हमारा परलोक ही सुखमय नहीं बनता परन्तु वर्तमान जीवन भी सुखमय बनता है। क्योंकि योग आहार-विहार से न मानसिक रोग होता है और न शारीरिक रोग होता है। इसके साथ-साथ उसको समाज में परिवार में आदर भी मिलता है। इसके विपरीत असम्बन्ध आहार-विहार करने वाला व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ रहता है, उसका जीवन भार स्वरूप हो जाता है। वह न स्वाभिमान से जी सकता है और न ही गोत्वामय बन सकता है। आधुनिक चिकित्सा-मनोविज्ञान से सिद्ध किया गया है कि अयोग्य आचार-विचार से अनेक मानसिक रोग हो जाते हैं, जिसके कारण अनेक शारीरिक रोग भी हो जाते हैं मनोविज्ञान के अनुसार अनेक शारीरिक रोगों के मूल कारण मानसिक रोग ही हैं। यह आधुनिक मनोविज्ञान का सिद्धांत भारतीयों के लिये नवीन नहीं है। परन्तु यह सिद्धांत अत्यन्त प्राचीन एवं अतिपरिचित हैं। आधुनिक चिकित्सा की विभिन्न शाखाएँ एवं उपशाखाएँ भारतीय जन जीवन में, धार्मिक शास्त्र में, धार्मिक क्रियाकाण्डों में एवं आयुर्वेद में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई हैं। निम्न में एक आयुर्वेद का सूत्र उपरोक्त सिद्धांत स्पष्ट करने के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ —

नित्यं हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वासक्ता ।

दाता समः सत्यं परः क्षमावानासोपसेवी च भवत्यरोगः ।(86)

जो सतत हितकर आहार, योग्य विहार करता है, विवेकपूर्वक परिणाम को विचार करके प्रत्येक कार्य करता है, पंचेन्द्रिय जनित विषय में आसक्त नहीं होता है, यथायोग्य पात्र को यथायोग्य दान देता है, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र में समता भाव धारण करता है— सत्यग्राही, क्षमावान, देव, शास्त्र, गुरु, गुणीजन वृद्धजनों की सेवा करता है, वह निरोगी होता है।

जैन धर्मानुसार रोग होने का मूल कारण पूर्व उपार्जित पाप कर्म है। पाप कर्म का कारण खोटा आचार-विचार है। इसलिये शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिये सम्पूर्ण पाप कर्मों से निवृत्त होना आवश्यक है। इसलिये जैन आयुर्वेद कल्याण कारक में जैनाचार्य उग्रादित्य ने सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए पाप कर्मों से निवृत्त होने पर जोर दिया है।

प्रोषधोपवास करने की विधि:-

मुक्तसमस्तारंभः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्थे।

उपवासं गृहीयान्मत्वमपहाय देहादो।(152)

पुरुषार्थसिद्धयुपाय

प्रोषधोपवास उसे कहते हैं कि जो पर्व के दिनों में धारण किया जाता है 'प्रोषध' नाम पर्व का है उसमें जो उपवास धारण किया जाय वह प्रोषधोपवास कहा जाता है। अथवा दूसरी तरह से यह भी व्युत्पत्ति सिद्ध शब्दार्थ है कि चारों प्रकार के आहार का त्याग करने का नाम उपवास है। प्रोषध नाम एक बार भोजन करने का है और जो एक बार भोजन करके उपवास धारण करे वह प्रोषधोपवास कहलाता है, यहाँ पर यह अर्थ होता है कि जो प्रोषधपूर्वक उपवास है वह प्रोषधोपवास हैं। जब अष्टमी, चतुर्दशी को उपवास धारण किया जाता है तो सप्तमी एवं त्रयोदशी को एक बार भोजन किया जाता है। इसलिये प्रोषधपूर्वक उपवास होने से प्रोषधोपवास कहा जाता है अथवा प्रोषधोपवास धारण करके दूसरे दिन दोपहर पश्चात् आरम्भ किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। किसी प्रकार से विवेचन क्यों न किया जाय फलितार्थ सभी का एक ही है। उसी विधानक्रम को ग्रन्थकार बतलाते हैं कि उपवास करने के प्रथम दिन अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी के पहले दिन सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन करके सब प्रकार सांसारिक आरम्भ छोड़ देना चाहिये, साथ ही शरीर, कुटुम्बीजन और भोगोपभोगयोग्य समस्त पदार्थों से ममत्व छोड़कर उसी समय से उपवास धारण कर लेना चाहिये। उपवास का अर्थ यही है कि खाद्य, स्वाद्य, लेहा, पेय इन चारों प्रकार के आहार का परित्याग कर देना, अर्थात् जल औषधि आदि कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिये।

सत्तमि-तेरसि दिव अतिहिजणभोयणावसाणम्मि।

भोत्तून्-भुञ्जणिज्जं तत्थ वि काऊण मुखसुद्धिं।(281)

पृ.452 श्रावकाचार

पक्ष्मद्वालिङ्गण वयणं कर-चरणे णियमिङ्गण तत्थेव।

पच्छा जिणिंदभवणं गंतून जिणं णमंसित्ता।(282)

गुरुपुरुओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण।

गुरुसाक्षिखयमुववासं गहिङ्गण चउव्विहं विहिणा।(283)

सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अतिथिजन के भोजन के अन्त में स्वयं भोज्य वस्तु का भोजनकर वहाँ पर मुख-शुद्धि करके मुख को और हाथ पैरों को धोकर वहाँ पर ही उपवास सम्बन्धी नियम करने के पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिनभगवान् को नमस्कार करके गुरु के सामने वन्दनापूर्वक क्रम से कृतकर्म को करके, गुरु की साक्षी से विधिपूर्वक चारों प्रकार के आहार के त्यागरूप उपवास को ग्रहण करे।

मुणिङ्गण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं।

जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व जायव्वं।(291)

जरूरी कार्य को समझकर सावद्य रहित अपने गृह सम्बन्धि आरम्भ को यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है। किन्तु शेष विधान पूर्व के समान ही जानना चाहिए।

सिरणहाणुव्वट्टण -गंध मल्लकेसाइदेहसंप्यं।

अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि।(293)

प्रोषध के दिन शिर से स्नान करना, उबटन करना, सुंगधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदि का सजाना, देह का संस्कार करना तथा अन्य भी रमा के कारणों को छोड़ देना चाहिये।

पर्वपूर्वदिनस्यार्थे भुक्तवाऽतिथ्याशतोत्तरम्।

लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः।(36)

सागार धर्मामृत पृ.293

धर्मध्यान परो नीत्वादिनं कृत्वाऽपरान्हिकम्।

नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे।(37)

प्रोषधोपवासी श्रावक साधु के आहार होने के बाद में मध्याह्नकाल में भोजन करे अर्थात् सप्तमी, त्रयोदशी के पूर्व दो प्रहर बीत जाने के बाद वा कुछ हीनाधिक काल में भोजन करे। तदनंतर शीघ्र ही विधिवत् उपवास ग्रहण करें और बाद में गुरु के पास जाकर फिर उच्चारण करे। प्रोषधोपवास में श्रावक भी सर्व सावद्य व्यापार शरीर संस्कार तथा अब्रहा का त्याग करता है। उसके बाद प्रासुक अयोग्य जनरहित निर्जन वसतिका का आश्रय लेकर आज्ञाविचय, आपायविचय, विपाकविचय संस्थानविचय, एकाग्रचिन्ता, निरोधलक्षण धर्मध्यान में लीन होता हुआ स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा का चिन्तवन आदि करता हुआ दिन को बितावे। संध्याकाल के समय

संध्याकालीन सामायिक करके प्रासुक याने निर्जन्तुभूमि पर अथवा तृणादि के आसन पर बैठकर स्वाध्याय में लीन होता हुआ रात्रि को बितावे। इससे यह सिद्ध होता है कि निद्रा, आलस्य को छोड़े। तथा-

ततः प्राभातिकं कुर्यात्तद्वयमान् दशोत्तरान् ।

नीत्वाऽतिथिं भोजमित्वा भुज्ञीतालौल्यतः सकृत् ॥(38)॥

उसके बाद प्रभातकाल का सामायिक करे। जिस प्रकार त्रयोदशी के वा सप्तमी के दिन की दो प्रहर और रात्रि की चार प्रहर इन षट्प्रहर की प्रक्रिया (विधि) का वर्णन किया, उसी प्रकार अष्टमी वा चतुर्दशी के दिन की और रात्रि के आठ प्रहर और नवमी अथवा पौर्णिमा को प्रथम दो प्रहर इन दस प्रहर को षट्कर्मादि के द्वारा बितावे। तदनन्तर अतिथि को भोजन कराकर भोजन में अतिलौल्यता (गृद्दता) का त्याग करके एक बार भोजन करे। तथा-

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमयैव पूज्येत् ।

प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागाङ्गं दूरमुत्सुजेत् ॥(39)॥

प्रोषधोपवासी श्रावक पंचपरमेष्ठी शास्त्र और गुरु की उनमें अनुरागगत गुणस्मरण लक्षण भावपूजा के द्वारा अक्षत मौक्तिक माला आदि प्रासुक द्रव्य के द्वारा आराधना करे और इन्द्रिय और मन को उत्तेजित करने वाले गीत नृत्यादिक को दूर से परित्याग करे।

प्रोषधोपवास का स्वरूप

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् ।

पक्षार्थ्योद्वयोरपि कर्त्तव्योवश्यमुपवासः ॥(151)॥

(पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पृ.178)

प्रोषधोपवास एक मास में चार बार किया जाता है, एक महीने में दो पक्ष होते हैं, प्रत्येक पक्ष के अर्ध-अर्ध भाग में अष्टमी चतुर्दशी तिथियाँ आती हैं, इसलिये एक महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी आती हैं, इन चारों दिनों में प्रोषधोपवास अवश्य करना चाहिये। इसके करने से आरम्भजनित हिंसा का त्याग एवं परिणामों में निराकुलता तथा विशुद्धि विशेष उत्पन्न होती है, उससे प्रतिदिन किये जाने वाले सामायिक के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। इसलिये जो सामायिक शिक्षाव्रत धारण करने वाले गृहस्थ हैं उन्हें उनकी दृढ़ता के लिये प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत भी अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

प्रोषध प्रतिमा—

उत्तम-मज्ज-जहण्ठां तिविहं पोसहविहाणमुद्दिङ् ।

सगसत्तीए मासम्मि चउस्सु पव्वेसु कायव्वं ॥(280)॥

(बसु.श्रावकाचार, पृ.451)

उत्तम, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का प्रोषध-विधान कहा गया है। यह श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार एक मास के चारों पर्वों में करना चाहिये।

जह उक्कस्सं तह मज्जिमं वि पोसहविहाणमुद्दिङ् ।

ठावर विसेसो सलिलं छंडिता वज्जए सेसं ॥(290)॥

जिस प्रकार का उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकार का मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जल को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए।

आयंबिल णिव्वयडी एयद्वाणं च एयभत्त वा ।

जं कीरडं तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥(292)॥

जो अष्टमी आदि पर्व के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्त को करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान करना चाहिए।

स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पव्यां यथागमम् ।

साम्यसंस्कारदाढ्याय चतुर्भुक्युज्ञनं सदा ॥(34)॥

सागर धर्मामृत पृ.292

स्वाद्य, खाद्य, लेह्व और पेय द्रव्यों के भेद से भोजन चार प्रकार का है। एक बार भोजन करने को एकभुक्ति कहते हैं। धारणा के दिन एकभुक्ति, उपवास के दिन दो भुक्ति और पारणा के दिन एकभुक्ति का त्याग किया जाता है। इसलिये चतुर्भुक्ति का त्याग कहलाता है। प्रोषध अथवा पर्व में उपवास करना प्रोषधोपवास कहलाता है। ब्रती श्रावक के द्वारा अपने साम्यभाव से संस्कार को दृढ़ करने के लिये वा परिषहादिक के प्रभाव से अविचल रहने के लिए एक महीने में दो अष्टमी, दो चतुर्दशी के दिन आगमानुसार चारों भुक्ति का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है।

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदश्मैः ।

आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्तया हि श्रेयसे तपः ॥(35)॥

प्रोषधोपवास उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार का होता है। अष्टमी चतुर्दशी के दिन चारों प्रकार के आहार का चतुर्भुक्तिव्याग करना उत्कृष्ट प्रोषधोपवास है जिनकी उत्कृष्ट करने की शक्ति नहीं है वह श्रावक पानी को छोड़ करके चार प्रकार के आहार का त्याग कर अनुपवास करे और जिनकी अनुपवास करने की शक्ति नहीं है वे आचाम्लनिर्विकृति आदि करें।

आचाम्ल – कांजी सहित केवल भात के भोजन को आचाम्ल आहार कहते हैं।

निर्विकृति आहार – विकृति शब्द का अर्थ गोरस, इसुरस, फ्लरस और धान्यरस है क्योंकि जिसके खाने से जिब्हा और मन में विकार पैदा हो उसे विकृति कहते हैं। इसलिये उपर्युक्त चारों प्रकार के रस विकृति कहलाते हैं।

गोरस – घृत, दुध, दही आदि।

इश्वुरस – शक्कर, गुड़ आदि।

फ्लरस – द्राक्ष, आम्र, केला, अनार आदि का रस।

धान्यरस – तेल, मॉड आदि।

अथवा जिसको मिलाकर भोजन करने से भोजन में स्वादिष्टपना उत्पन्न होता है उसको विकृति कहते हैं और विकृति रहित भोजन को निर्विकृतिआहार कहते हैं। आचाम्लनिर्विकृति आदि शब्द से एक स्थान पर बैठकर ही भोजनपान करने का अथवा रस छोड़कर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अपनी शक्ति अनुसार उत्तम, मध्यम, जघन्य भेद से कहे गये प्रोषधोपवास करना चाहिये। क्योंकि शक्ति अनुसार किया हुआ तप ही कल्याणकारी हैं।

उपवास दिवस तजि वीर, छाण्यो सचित्त जो नीर।

लेते दूषण बहु थाई, उपवास वृथा सो जाई।(474)

(क्रियाकोष पृ.74)

पीवै सो प्रासुक करिकैं, दुतियो जु दख मधि धरिकैं।

वैहू विरथा उपवास, लेणो नहि भविजन तास।(475)।

अरु सकतिहीन जो थाई, जलते तन हूँ थिरताई।

तो अधिक उसन इम वीर, विन हुकम किये जो नीर।(476)।

अन्नादिक भाजन केरो, दूषण नहि लागै अनेरो।

ऐसो आवै जे पाणी, ताकि विधि एम बखाणी।(477)।

जो मनुष्य उपवास के दिन अपनी शक्ति छोड़कर छाना हुआ सचित्त पानी

लेते हैं उसमें बहुत दोष लगता है, उसका उपवास व्यर्थ हो जाता है, इसलिये जल प्रासुक करके पीना चाहिये। उस पानी में सौंफ या काली मिर्च आदि दूसरे पदार्थ मिला कर पीते हैं उनका भी उपवास व्यर्थ होता है इसलिये हे भव्यजनों! ऐसा पानी लेना योग्य नहीं है। यदि शक्ति क्षीण हो गई हो और जल से शरीर में स्थिरता आती हो तो जो गर्म किया गया हो और अन्नादिक के पात्र अर्थात् सकरा का दोष जिसमें न हो ऐसा पानी आवै तो उसके लेने की विधि कही गई है।

उपवास आठमो बांटो, वहि है इम जाणि निराटो।

इनमें आछी विधि जाणी, करियै सो भविजन प्राणी।(478)

उपवास में जो उपहार आदि बांटते हैं वह भी ठीक नहीं है। इनमें जो अच्छी विधि हो उसे ही भव्य प्राणियों को करना चाहिये।

संसो मनि इहै न कीजै, प्रोषध में कंबहु न लीजै।

पोसह विन जो उपवासै, तामै ऐसी विधि भासै।(479)।

इसमें मन संशयपूर्ण नहीं करना चाहिये। प्रोषधव्रत में इसे नहीं करना चाहिये किन्तु प्रोषध के दिन जो उपवास किया हो उसमें उपहार आदि बंटने की विधि होती है।

उत्तम फलकौं जे चाहैं, ते इह विधि नेम निवाहै।

उपवास दिवस में नीर, संकट हूँ मैं तजि वीर।(480)।

जो मनुष्य उत्तम फल को चाहते हैं वे इस नियम का निर्वाह करें कि कितना ही संकट हो फिर भी उपवास के दिन जल ग्रहण न करें।

स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमोषधम्।

जन्ममृत्युजराङ्कत

विध्वंसतविचक्षणम्।(195)।

(लाठी संहिता) पृष्ठ-134

जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग आदि संसार सम्बन्धी समस्त दुःखों को समस्त रोगों को नाश करने के लिये यह प्रोषधोपवास नाम का व्रत एक विलक्षण और सबसे उत्तम औषधि है।

चतुर्दशिशनसन्नयासो यावद्यमाश्च षोडश।

स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषध संज्ञकम्।(196)।

सोलह पहर तक चार प्रकार के आहार का त्याग कर देना और जिनालय आदि किसी भी निर्दोष स्थान में रहना प्रोषधोपवास व्रत कहलाता है।

प्रोषधोपवास प्रतिमा का वर्णन

स प्रोष्योपवासी स्वाद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये ।
साम्यान्न च्यवते यावत्प्रोषधानव्रतम् ॥(4)

सागर धर्मामृत

जो श्रावक पहिले की दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा को निरतिचार पालन करता हुआ सोलह प्रहर तक प्रोषधोपवास के समय साम्यभाव से च्युत नहीं होता है उसको प्रोषधोपवासी अर्थात् प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी कहते हैं। जब तक, प्रोषधोपवास व्रत शीलरूप पाला जाता है तब तक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से छह प्रकार का सामायिक कहलाता है। उनमें से भाव सामायिक को छोड़कर नामादिक पांच प्रकार के सामायिकमय भावों से भी प्रोषधोपवास व्रत पाला जाता है। जिस प्रकार सामायिक प्रतिमा में सामायिक करते समय साम्यभाव की आवश्यकता है उसी प्रकार प्रोषधोपवास के समय भी सोलह प्रहर तक साम्य भाव की आवश्यकता है।

प्रोषधोपवास व्रती की प्रमकाष्ठा का निर्देश –

त्यक्ताहाराङ्गसंस्कारः व्यापारः प्रोषधं श्रितः ।
चेलोपसृष्टमुनिवद्भाति नेदीयसामपि ॥(5)

खाद्य, स्वाद्य, लेहा और पेय के भेद से आहार चार प्रकार का है।

रोटी, दाल, भात, लड्डू आदि पदार्थों को खाद्य कहते हैं।

पान, सुपारी इलायची आदि को स्वाद्य कहते हैं।

रबड़ी, चटनी आदि जो पदार्थ चाट कर खाये जाते हैं उसको लेहा कहते हैं और दूध और पानी आदि को पेय कहते हैं। जिन्होंने इस प्रकार के चार प्रकार के आहार को तथा स्नान, उबटन चन्दनादिक का विलेपन पुष्प, गन्ध, विशिष्ट वस्त्रादिक से शरीर के संस्कार का भी त्याग किया है और च शब्द से आरम्भ व्यापार का भी त्याग किया है और जो शरीर से भी ममत्व का त्यागी है ऐसा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला प्रोष्योपवासी श्रावक अपनी समीपवर्ती मनुष्यों को उपसर्ग के वश से वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मालुम होता है।

सामायिक और प्रोषधोपवास में प्रतिमापना कैसे होता है उसका वर्णन –

यत्प्राक्सामायिकं शीलं, तद्वतं प्रतिमावतः ।

यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥(6)

जिस प्रकार दूसरी प्रतिमा में सामायिक व्रत शीलरूप है, दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक तीनों संध्याओं में सामायिक नियमित रूप से करे ऐसा विधान नहीं है। क्योंकि जब तक तीसरी प्रतिमा स्वीकार नहीं की तब तक सामायिक व्रत शीलरूप है। जैसे – खेती की रक्षा बाढ़ करती है उसी प्रकार सामायिक भी अणुव्रतों का रक्षक रूप से सहायक व्रत है, मुख्य व्रत नहीं है और जब तीसरी प्रतिमा धारण की जाती है तब वह सामायिक शीलरूप न रहकर व्रतरूप हो जाता है। तीसरी प्रतिमाधारी के लिए तीनों संध्याओं में सामायिक करना अनिवार्य है। उसी प्रकार प्रोषधोपवास व्रत भी दूसरी, तीसरी प्रतिमा में शीलरूप था, मुख्यव्रत नहीं था। परन्तु चतुर्थ प्रतिमा स्वीकार करने वाले के व्रतरूप होता है। अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जघन्य, मध्यम और उत्तम रूप तीन भेद प्रोषध के कहे हैं उनमें से कोई एक भेद पालना जरूरी हो गया है। इसलिये यद्यपि बारह ही व्रत दूसरी प्रतिमा में पालन किये जाते हैं, परन्तु जब तक व्रतरूप नहीं है तब तक वह शीलरूप कहलाते हैं जैसे दूसरी प्रतिमा में पांच अणुव्रत है शेष सात व्रत शीलरूप हैं। परन्तु तीसरी प्रतिमा में सामायिक व्रत व्रतरूप होता है बाकी शेष छह शीलरूप होते हैं ऐसा शील में और व्रत में अन्तर समझना चाहिए।

परमोत्कृष्टता को प्राप्त प्रोषधोपवासी की प्रशंसा –

निशां नयन्तः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यन्ते न केनापि तानुमस्तुर्यभूमिगान् ॥(7)

जो श्रावक अपने पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का नाश करने के लिये अष्टमी चतुर्दशी की रात्रि को मुनि के समान कायोत्सर्ग से बिताते हैं और घोरोपसर्ग आने पर भी अपनी समाधि से च्युत नहीं होते हैं उन चतुर्थप्रतिमाधारी श्रावक की हम स्तुति करते हैं। अर्थात् वह श्रावक प्रशंसा का पात्र है।

उपवास में कर्तव्यविधि

श्रित्वा विविक्तवसर्ति समस्तसावद्ययोगमपनीयम् ।

सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥(153)

(पु.सि.पु.180)

सप्तमी और त्रयोदशी के दोपहर पीछे ही किसी एकांत स्थान में या चैत्यालय में प्रोषधोपवास करने वाला बैठ जाय और सम्पूर्ण पापों का त्याग कर दें तथा समस्त इन्द्रियों के विषयों को छोड़ दे और मन को, वचन को, काय को वश में कर ले, तीनों योगों को किसी प्रकार चलायमान नहीं होने दें।

धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिबाह्य विहितसांध्यविधिः ।

शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥(154)

सप्तमी और त्रयोदशी का आधा दिन धर्मध्यान में ही बितावे और किसी सांसारिक बात का प्रसंग भी नहीं आने दें क्योंकि उस प्रकार के प्रसंग से अशुभास्पद होगा, परिणामों में मलिनता एवं कषयभावों की उत्पत्ति होगी इसलिये केवल धर्मध्यान ही करता रहे, धर्म का स्वरूप विचार करें, आत्मा अथवा अर्हत् का स्वरूप विचार करें, कर्मों के विपाक का विचार करे कि ये कर्म किस प्रकार आत्मा को दुःखों एवं भ्रमणशील बना रहे हैं इनका छुटकारा किस प्रकार जल्दी होगा, इन कर्मों से जीवों का किस प्रकार अपाय अनर्थ हो रहा है, लोक की रचना किस प्रकार है, जीव कहां-कहां रहते हैं इस संसार में जीव के उद्धार का कारण एक जिनेन्द्र की आज्ञा ही है। यदि जिनेन्द्र की आज्ञा पर जीव चलने लग जाय तो फिर उनके कल्याण में कोई बाधा कभी नहीं आ सकती, इत्यादि रूप से धर्मस्वरूप वस्तुस्वरूप आदि धर्मध्यान करने में ही दिन बिताना चाहिये, इसके पश्चात् सायंकाल होने पर संध्या की विधि करना चाहिये। उस समय सामायिक, प्रतिक्रमण, वन्दना आदि कार्य करना चाहिये, किए हुए दुष्कर्मों की आलोचना करना चाहिये। इसके पश्चात् रात्रि को कुशासन, चटाई आदि पवित्र आसन पर बैठकर स्वाध्याय से निद्रा को

वश करते हुए बिताना चाहिये। भूमि को अच्छी तरह देखकर जीव हों तो उन्हें कोमल वस्तु से हटाकर निर्जीव स्थानपर शीतलपट्टे, चटाई, कुशासन आदि तृण का बना हुआ आसन बिताना चाहिये। उस रात्रि को सोने में बिताना ठीक नहीं है, कारण सोने से प्रमाद की वृद्धि होती है, स्वप्नादि विकारों से चित्त में मलिनता आती है इसलिये चित्त को शुद्ध एवं निःप्रमाद परिणाम रखने के लिये उस रात्रि को स्वाध्याय एवं धर्मचिन्तन आदि सम्यज्ञानवर्धक कार्यों में बिताकर निद्रा को जीतना चाहिये।

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् ।

निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥(155)

इस प्रकार रात्रि बिताकर प्रातःकाल सामायिक, प्रतिक्रमण, वन्दना आदि उस समय की संध्याविधि-क्रियाकांड करे, पीछे शास्त्रविहित मार्ग के अनुसार प्रासुक-द्रव्यों से जिनपूजा करे। इस प्रकार उपर्युक्त रीति के अनुसार प्रोषधोपवास करने वाला पर्व के दिन अष्टमी और चतुर्दशी के दिन जिनेन्द्रपूजन करें।

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।

अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्थं च तृतीयदिवसस्य ॥(156) ।

प्रोषधोपवास करने वाला अष्टमी चतुर्दशी के दिन प्रातः काल से सामायिक के पीछे से लेकर मध्याह्न के सामायिक से पहले-पहले पूजन करें, पूजन जल्दी समाप्त कर ले तो स्वाध्याय करें। इसके पश्चात् मध्याह्न का सामायिक करें, पीछे स्वाध्याय अथवा धर्मचर्चा के सुनने सुनाने में समय बितावें, सायंकाल होने पर फिर सामायिक प्रतिक्रमण आदि संध्याविधि करें, पश्चात् देखभाल कर जीवों की बाधा बचाकर पवित्र आसन पर बैठकर रात्रि को शास्त्रपठन-जिनेन्द्रगुणचिंतन आदि द्वारा निद्रापर विजय करें, उसके बाद नवमी या पन्द्रह को प्रातः काल उठकर वही संध्याविधि-सामायिक प्रतिक्रमण वन्दना आदि नित्य कर्तव्य करें, पश्चात् जिनेन्द्र पूजन एवं स्वाध्याय करके उस दिन का पूर्वार्द्ध बितावें पश्चात् भोजनादि आरम्भ करें।

वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोव ओगेहिं ।

णोऊण दिवससेसं अवराणिहयवंदणं किच्चा ॥(284)

श्रावकाचार पृ० 452

रथणि समयमिह ठिच्चा काउस्सगेण णिययसत्तीए।
पडिलेहिऊण भूमि अप्पपमाणेण संथारं ॥(285)।
दाऊण किंचि रत्ति॒ सङ्गुण जिनालए णियघरे वा।
अहवा॒ सयलं॒ रत्ति॒ काउस्सगेण णेऊण ॥(286)
पच्चूसे॒ उड्डिता॒ वंदणविहिणा॒ जिणं॒ णमंसिता।
तह॒ दब्ब-भावपुज्जं॒ जिण-सुय-साहूण काऊण ॥(287)
उत्तविहाणेण॒ तहा॒ दियहं॒ रत्ति॒ पुणो॒ वि॒ गमिऊण।
पारण॒ दिवसम्मि॒ पुणो॒ पूयं॒ काऊण॒ पुव्वंव ॥(288)।
गंतूण॒ णिययगेहं॒ अतिहिविभागं॒ च॒ तथ्य काऊण।
जो॒ भुजंड॒ तस्स॒ फुड॒ पोसहविहि॒ उत्तमं॒ होई ॥(289)।

शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण, श्रावण, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदि के उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा अपराह्निक वंदना करके -रात्रि के समय अपनी शक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग से स्थित होकर भूमिका प्रतिलेखन (संशोधन) करके और अपने शरीर के प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रि में कुछ समय तक जिनालय अथवा घर में सोकर अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्ग में बिताकर प्रातः काल वंदना विधि से जिन भगवान् को नमस्कार कर तथा देव, शास्त्र, गुरु का द्रव्य या भावपूजन करके पूर्वोक्ति विधान से उसी प्रकार सारी दिन और सारी रात्रि को फिर भी बिताकर अर्थात् पारणा के दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासी को पुनः पूर्व के समान करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथि को आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चय से उत्तम प्रोष्ठविधि होती है।

सामायिक व्रत कहाँ॒ बखाणी॒, अब॒ प्रोष्ठव्रत की॒ सुन वाणी॒।
एक॒ मासमें॒ परब॒ तु॒ चार,॒ दूँ॒ आठें॒ दुँ॒ चौदसि॒ धारि ॥(446)
इन॒ दिन॒ में॒ प्रोष्ठवि॒ सि॒ तरे॒, ते॒ वसु॒ कर्म॒ निर्जरा॒ करे॒।
वे॒ जिनधर्म॒ विष॒॑ अति॒ लीन,॒ वे॒ श्रावक॒ आचार॒ प्रवीन ॥(447)

क्रियाकोष पृ.70

अब तक सामायिक व्रत का व्याख्यान कहा। अब प्रोष्ठव्रत की बात सुनो-
एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी, इस प्रकार चार पर्व होते हैं। इन पर्व के दिनों में जो प्रोष्ठव्रत करते हैं वे आठों कर्मों की निर्जरा करते हैं। प्रोष्ठ करने वाले जिनधर्म में लीन रहते हैं तथा श्रावकाचार में प्रवीण कहलाते हैं।

अब प्रोष्ठविधि सुनि लेह, भाष्यों जिन आगममें जेह।
सातें॒ तेरसके॒ दिन॒ जानि॒, जिन॒ श्रुत॒ गुरु॒ पूजाको॒ ठांनि ॥(448)।
पूजा॒ विधि॒ कर॒ श्रावक॒ सोइ॒, भोजन॒ वेला॒ मुनि॒ अवलोइ॒।
जिन॒ मंदिरों॒ तब॒ निज॒ गेह,॒ एक॒ ठाम॒ अण॒ पाणी॒ लेह ॥(449)।
अब प्रोष्ठविधि की विधि जैसी जिनागम में कही है उसे सुनो- सप्तमी और त्रयोदशी के दिन जिनदेव शास्त्र और गुरु की पूजा करे। पूजा के बाद श्रावक भोजन के समय मुनियों का द्वाराप्रेक्षण करे, पश्चात् जिनमन्दिर से अपने घर जाकर एक स्थान पर बैठ कर अन्न-पानी ग्रहण करे अर्थात् एकाशन करे।

मध्याह्निक समया को धारि, करै प्रतग्या सुबुद्धि विचार।
घोडश पहर लेइ॒ मरयाद, चौबिह॒ हार छांडि॒ परमाद ॥(450)।
खादि॒ स्वादि॒ लेई॒ अरु॒ पेय, अतीचार॒ ते॒ सबहि॒ तजेय।
दुपटी॒ धोती॒ विधि॒ व्रत॒ लेइ॒, अवर॒ वस्तु॒ तनसौं॒ तजि॒ देइ ॥(451)।
तदनंतर मध्याह्न की सामायिक कर विचारपूर्वक प्रोष्ठधोपवास की प्रतिज्ञा करे। सो नह प्रहर की मर्यादा लेकर तथा प्रमाद छोड़कर खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहार का निरतिचार त्याग करें। शरीर पर धोती दुपट्टा धारण कर अर्थात् सब वस्तुओं का परित्याग कर दे।

स्नानादिक भूषण परिहैर, अंजन तिलक व्रती नहि करै।
जिनमंदिर वन उपवन ठांहि, अथवा भूमि मसांणहि जाहि ॥(452)।
घोडश जाम ध्यान जो धैरै, धरम कथा जुत तहि अनुसरै।
पंच पाप मन वच कर्म तजै, श्री जिन आज्ञा हिरदै भजै ॥(453)।
धरमकथा गुरु मुखते॒ सुणै, आप कहै॒ निज आतम मुणै।
निद्रा अलप पाछिली राति, है॒ नौमी पूण्यो परभाति ॥(454)।
मरयादा पूरब गुणधार, जिनमंदिर आवै निज द्वार।
द्वारापेखण परि चित धारि, खडो रहे निज धरिके बार ॥(455)।
पात्रदान दे अति हरषाय, एका भुक्ति करै सुखदाय।
पारण दिन पिछली छह जाम, च्यारि अहार तजै अभिराम ॥(456)।

स्नान, आभूषण, अंजन तथा तिलक आदि नहीं करे। जिनमन्दिर, वन, उपवन अथवा श्मशान भूमि में जाकर सोलह प्रहर का ध्यान करें। धरमकथा करते हुए ध्यान के समय को पूरा करे। पाँच पापों का मन, वचन, काय से त्याग करें, श्री जिनेन्द्र

देव की आज्ञा को हृदय में धारण करें, गुरु के मुख से धर्मकथा सुने अथवा स्वयं धर्मकथा करे और अपनी आत्मा का मनन करे। पिछली रात्रि में थोड़ी निद्रा ले। जब नवमी अथवा पूर्णिमा का प्रभात हो तो पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार जिनमन्दिर जाकर पूजा करे। इसके पश्चात् घर आकर द्वारप्रेक्षण करता हुआ घर के बाहर खड़ा रहे। पात्रदान देकर अत्यन्त हर्षित हो स्वयं एक भुक्ति एकाशन करें। इसके पश्चात् पारणा के दिन के जो छह प्रहर शेष रहे हैं उनमें चार प्रकार के आहार का त्याग करें।

इह उत्किष्ट कहाँ उपवास, करै कर्मगणको अतिनास।

मुरसुख लहि अनुक्रमि सिव लहे, सतवायक इह जिनवर कहे।(457)

यह उत्कृष्ट प्रोषधकी विधि कही हैं। यह उत्कृष्ट उपवास कर्मसमूह का नाश करता है। इसे करने वाला मनुष्य देवगति के सुख प्राप्तकर क्रम से मोक्षको प्राप्त होता है, ऐसा सत्यवादी जिनेन्द्र देवने कहा है।

कहुं मध्यम उपवास विचार, षट् कर्मोपदेश अनुसार।

प्रथम दिवस एकंत करेय, धरी दोय दिनतें जल लेइ।(458)

जिन मंदिर अथवा निजगेह, पोसह द्वादश पहर धरेह।

धर्मध्यान में बारा जाम, गमिहै धरिके तजि सब काम॥(459)

अब षट्कर्मोपदेश- श्रावक के छह कर्मों का उपदेश-देने वाले श्रावकाचार के अनुसार मध्यम उपवास का विचार करते हैं। उपवास के पूर्व दिन एकाशन करे, पश्चात् जब दो घड़ी दिन रह जाय तब जल लेकर जिनमन्दिर अथवा अपने ही घर बारह प्रहर के उपवास का नियम धारण करे। घर के सब काम छोड़ कर बारह प्रहर धर्म ध्यान में व्यतीत करें।

जा विधि दिवस धारणै जाणि, सोही दिन पारणै वरवाणि।

तीन दिवस लौ पालै शील, सो सुरके सुख पावै लील।(460)

जो विधि धारणा के दिन की कही है वही पारणा के दिन की कही गई है। तीन दिन तक शील ब्रत- ब्रह्मचर्यका पालन करें। इस मध्यम उपवास को करने वाला अनायास ही देवगति के सुख प्राप्त करता है।

जघन्य वास भवि विधि सौ करौ, प्रथम दिवस इह संख्या धर।

पछिलो दिवस घड़ी दोय रहै, ता पीछे पाणी नहि गहै॥(461)॥

निसिको शील ब्रत पालियै, प्रात् समय पोसो धारियै।

आठ पहर ताकी मरयाद, धरम ध्यान जुत तजि परमाद।(462)

जघन्य उपवास को भी भव्यजीव विधिपूर्वक धारण करें। उसकी विधि इस प्रकार है:- जब दिन में दो घड़ी शेष रह जावे तब से अन्न पानी का त्याग कर दे। रात्रि में शील ब्रत का पालन करें। पर्व के प्रातःकाल उपवास का नियम लेवे। उसकी मर्यादा आठ प्रहर की होती है। आठ प्रहर तक प्रमाद छोड़कर धर्मध्यान में समय व्यतीत करना चाहिए।

दिवस पारणै निसि जल तजै, वासर तीन शील ब्रत भजै।

प्रोषध तो उत्किष्ट हि जाणि, मध्य जघन्य उपवास बखाणि।(463)

त्रिविध वासकाँ जो निखाहै, सो प्राणी सुरके सुख लहै।

पारण के दिन रात्रि-जल का त्याग करे तथा तीन दिन शीलब्रत का पालन करे। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रोषधोपवास तो उत्कृष्ट ही कहलाता है मध्यम और जघन्य उपवास कहलाते हैं। जो प्राणी इन तीनों प्रकार के उपवासों का पालन करते हैं वे देव गति के सुख प्राप्त करते हैं।

कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां प्रोषधब्रतम्।

(लाठी संहिता)

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यापि चान्यदा।(197)

(श्रावकाचारसंग्रह पृ.134)

यह प्रोषधोपवास नाम का ब्रत अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वों के दिनों में अवश्य करना चाहिये।

धारणाण्हि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजनः।

तिष्ठेत्स्थानं समाप्ताद्य नीरांगं निरवद्यकम्।(198)

यदि चतुर्दशी को प्रोषधोपवास करना हो तो इस ब्रत को त्रयोदशी के दिन ही ग्रहण करना चाहिये। त्रयोदशी के दिन मध्याह्न में या दोपहर के समय एक बार भोजन करना चाहिये तथा भोजन के बाद किसी निर्दोष और रागरहित स्थान में जाकर रहना चाहिये।

तत्रैव निवसेद् रात्रौ जागरूको यथाबलम्।

प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद् ब्रती।(199)

बाकी दिन उसे वहीं बिताना चाहिये, रात्रि में भी वहीं निवास करना चाहिये।

उस रात को अपनी शक्ति के अनुसार जगते रहना चाहिये। प्रातः काल उठकर उस व्रती श्रावक को वह समस्त दिन धर्म ध्यान से बिताना चाहिये।

जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे।
न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभिः ।(200)।

प्रोषधोपवास के दिन उस व्रती श्रावक को जल नहीं पीना चाहिये। आचार्यों ने प्रोषधोपवास के दिन मुनियों के समान ही जलपान का निषेध किया है। इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि उस व्रती श्रावक को जल के पीने का निषेध है। जल, चन्दन, अक्षत आदि आठों द्रव्यों से भगवान् अरहन्तदेव की पूजा करने का निषेध नहीं है।

यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदपि वै।
न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चनं ।(201)।

प्रोषधोपवास के दिन भगवान् अरहन्त देव की पूजा करने के लिये आचार्यों की ऐसी आज्ञा है कि व्रती श्रावक यदि प्रोषधोपवास के दिन भगवान् अरहन्तदेव की पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है। यदि उस दिन वह पूजा न करे तो भी कोई दोष नहीं है।

एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधीः।
कृतक्रियोऽशनं कुर्यान्मध्याहे पारणादिने ।(202)।

उस धर्मात्मा व्रती श्रावक को वहीं पर उस दिन की रात्रि व्यतीत करनी चाहिये तथा पारणा के दिन अर्थात् पूर्णिमा के दिन प्रातः काल उठकर पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अपना नित्य कर्तव्य करना चाहिये और दोपहर के समय एक बार भोजन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनं त्रयम्।
परयोषिन्निषिद्धा प्रागिदं त्वात्मकलत्रके ।(203)।

धारणा के दिन से लेकर अर्थात् त्रयोदशी से लेकर तीन दिन तक त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा इन तीनों दिन उसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि ऐसे व्रती श्रावक के लिये परस्ती का निषेध या त्याग तो पहले ही कह चुके हैं। अब यहाँ पर जो तीन दिन के लिये ब्रह्मचर्य का पालन बतलाया है वह अपनी विवाहिता धर्मपत्नी के सेवन करने का त्याग बतलाया है।

उपवासदिने धीरैः ग्राह्यं नीरं न खण्डकम्।
उपवासस्य सारस्य कृत्वा प्राद्भुतसाहसम् ।(6)
(प्रश्नोत्तर श्रावकाचार पृ.369)

धीरवीर पुरुषों को उपवास के दिन अद्भुत साहस प्रगट कर पानी की एक बूंद भी ग्रहण नहीं करनी चाहिये।

नीरादानेन हीयेत भागश्चैवाष्टमो नृणाम्।
उष्णे नैवोपवासस्य तस्मान्नीरं त्यजेत्सुधीः ।(7)

उपवास के दिन उष्ण जल के पीने से उपवास के फल का आठवाँ भाग कम हो जाता है, अतः बुद्धिमानों को उपवास के दिन जल पीने का त्याग करना चाहिये।

कषायद्रव्यसन्मिश्रं जलं गृह्णाति यो नरः ।

उपवासं समादाय तेषां स हीयतेतराम् ।(8)

जो उपवास ग्रहण करके कषाय द्रव्यों से मिले हुए जल को (किसी काढ़े को वा शरबत आदि को) पीते हैं उनके उपवास में अवश्य कमी होती है।

तन्दुलादिकसन्मिश्रं ये पिबन्ति जलं शठाः।

आदाय प्रोषधं तेषां सः स्याद्ब्रह्मततो धूवम् ।(9)

जो प्रोषधोपवास ग्रहण करके भात मिले हुए जलको (चावलों के मांड को जिसमें कुछ चावलों का तत्त्व मिला रहता है) पीते हैं उन मूर्खों का प्रोषधोपवास अवश्य नष्ट हो जाता है।

उपवासो जिनैरुक्तः पानाहारादिवर्जितः ।

उत्कृष्टः सर्वसावद्यचिन्तादिकपराङ्मुखः ।(10)

भगवान् जिनेन्द्रदेव ने आहार पानी सबका त्याग करने व समस्त पाप और चिन्ताओं से अलग रहने को उत्कृष्ट उपवास कहा है।

उपवासदिने सारे सर्वस्तुकदम्बकम्।

विनैकं भूषणं स्नानं गन्धं पुष्पणि कुइकुयम् ।(11)

अञ्जनं मुखसंस्कारं चाङ्गोपांगादिविक्रियाम्।

शश्यादिकं त्यजेद्वीमान् वीतरागगुणामये ।(12)

उपवास के दिन वीतराग भगवान् के गुण प्राप्त करने के लिए बुद्धिमानों को एक वस्त्र को (धोती को) छोड़कर अन्य सब वस्त्रों का त्याग कर देना चाहिये

तथा आभूषण, स्नान, गन्ध, पुष्प, कुंकुम, अङ्गन, तांबूल, अंग-उपांगों के विकार और शश्या आदि सबका त्याग कर देना चाहिये।

गृहव्यापारजां हिंसामसत्यं विकथादिकम्।
स्तेयमब्रह्मसेवां च द्रव्यादिकपरिग्रहम् ।(13)
अशुभं सर्वसङ्कल्पं वचो हिंसादिकारणम्।

गमनादिप्रयुक्तं न कार्यं वस्तु च पापदम् ।(14)

घर के व्यापार से होने वाली हिंसा, विकथा आदि असत्य, चोरी, अब्रहा, द्रव्य परिग्रह आदि सब पापों का त्याग कर देना चाहिये। मन के सब अशुभ संकल्पों का, हिंसा आदि पापों के करनेवाले वचनों का, आने जाने आदि क्रियाओं तथा और भी पाप उत्पन्न करने वाले कामों का सबका त्याग कर देना चाहिये।

मनोवाक्काययोगेन त्यक्त्वा सर्वाशुभं बुधाः।
उपवासदिने धीराः तिष्ठन्ति मुनियो यथा ।(15)

धीर वीर बुद्धिमानों को उपवास के दिन मन, वचन, काय तीनों योग से समस्त अशुभयोगों का त्याग कर मुनियों के समान विराजमान रहना चाहिये।

आदाय प्रोषधं धीरस्तिष्ठेत्साधुसमाश्रये।
जिनागरेऽथवा शून्यगेहे गिरिगुहादिषु ।(16)

धीरवीर पुरुषों को उपवास ग्रहण कर मुनियों के आश्रम में (मुनियों के समुदाय में वा उनके रहने योग्य स्थानों में) जिनालय में, किसी सूने मकान में अथवा पर्वत की गुफा आदि में रहना चाहिये।

श्रुतामृतं पिवेत्त्र धर्म-संवेगकारणम्।
एकचित्तेन तीर्थेशमुखोत्पन्नं शुभं सुधीः ।(17)

बुद्धिमानों को ऐसे स्थानों में रहकर चित्त लगाकर धर्म और संवेग को बढ़ानेवाले तथा श्री तीर्थकर के मुख से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञानरूपी शुभ अमृत का पान करना चाहिये अर्थात् शास्त्र श्रवण करना चाहिये।

ज्ञानवान धर्म संयुक्तः स्वयं धर्मामृतं पिवेत्।
अन्येषां पायेद्वापि परोपकाराय स्वान्ययोः ।(18)

यदि प्रोषधोपवास करनेवाला ज्ञानवान और धर्मात्मा हो तो उसे स्वयं धर्मरूपी अमृत का पान करना चाहिये और अपना या दूसरों का उपकार करने के लिये

अन्य भव्य जीवों को उसका पान करना चाहिये अर्थात् उसे स्वयं शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिये और दूसरों को सुनाना चाहिये।

अनुप्रेक्षाश्च पृथ्व्यसप्ततत्त्वादिकान् सुधीः ।

धर्मध्यानं चतुर्भेदं स्वागमं वा विचिन्तयेत् ।(19)

इसी प्रकार बारह अनुप्रेक्षाये, छह द्रव्य, सात तत्त्व, चारों प्रकार का धर्मध्यान और शास्त्रों का मनन व चिंतवन भी उन बुद्धिमानों को करना चाहिये।

संसारदेहभोगेषु पापश्वभ्रप्रदेषु वै।

वैराग्यं भावयेद्वीमान् नाकमुक्तिगृहाङ्ग्नम् ।(20)

इसी प्रकार बुद्धिमानों को पाप और नरक देनेवाले संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य भावनाओं का चिंतवन करना चाहिए क्योंकि यह वैराग्य ही स्वर्ग और मोक्षरूपी घर का आँगन है।

अनन्तगुणसन्दोहं केवलज्ञानभास्करम्।

मुक्तिबीजं जिनैर्धेयं लोकालोकप्रकाशकम् ।(21)

असंख्यमहिमायुक्तं परमात्मानमञ्जसा।

भजेद्वीमान् पुमान् धीरो मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।(22)

धीरवीर बुद्धिमान् मनुष्यों को केवलज्ञानरूपी सूर्य का चिंतवन करना चाहिये, क्योंकि यह केवलज्ञानरूपी सूर्य लोक-अलोक को प्रकाशित करनेवाला है, अनन्तगुणों का समुद्र है, मोक्ष का कारण है और जिनेन्द्रदेव भी इसका ध्यान करते हैं। इसी प्रकार अनन्त महिमाओं से सुशोभित परमात्मा का ध्यान भी उनको करना चाहिये।

एकचित्तेन वा धीमान् जपेत्पञ्चपदानि वै।

अर्हदादिगुरुणां हि नामोत्पन्नानि निश्चितम् ।(23)

इसी प्रकार उस दिन बुद्धिमानों को चित्त लगाक, अरहन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय व साधु इन पांचों परमेष्ठियों के वाचक पंच नमस्कार मन्त्र का जप और ध्यान करना चाहिये।

किमत्र बहुनोक्तेन त्यक्त्वा सावद्यमञ्जसा।

यतिवक्तिष्ठ भो मित्रं प्रोषधे स्वर्गमुक्तये ।(24)

हे मित्र! बहुत कहने से क्या लाभ है? थोड़े से में इतना ममद्वं लें, कि प्रोषधोपवास के दिन स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने के लिये समस्त पापों का त्याग कर

मुनि के समान रहे।

एवं यः प्रोषधं कुर्यात्सर्वहिंसादिवर्जितम् ।
क्षिपेद्वैराग्यमापनः एनः संख्याविवर्जितम् ॥(25)

इस प्रकार जो बुद्धिमान् वैराग्य धारण कर तथा हिंसा आदि समस्त पापों का त्याग कर प्रोषधोपवास करते हैं वे असंख्यात पापों को नष्ट करते हैं।

उपवासं विधत्ते यः कुर्यात्पापं गृहादिजम् ।
गजस्नान इव खेदस्तस्य पापक्षयो न च ॥(26)

जो उपवास धारण करके भी गृहस्थी के आरम्भ-व्यापार आदि के समस्त पाप करते हैं उनका वह उपवास हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है उस उपवास से केवल खेद ही होता है, पाप नष्ट नहीं होते।

तस्माद्वीर्णं कर्तव्यं उपवासादिके शुभे ।
गृहपापादिकारम्भः प्राणान्तेऽपि कदाचन ॥(27)

इसलिये धीरवीर पुरुषों को उपवास के शुभ दिन में प्राण नष्ट होने पर भी घर सम्बन्धी आरम्भादिक पाप कभी नहीं करना चाहिये।

प्रोषधोपवासी पूर्ण अहिंसाब्रती

इति यः षोडशायामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदार्णं नियतं पूर्णमहिंसाब्रतं भवति ॥(157)
(पु.सि.पृ. 182)

जैसी विधि ऊपर बताई गई है उसी के अनुसार जो समस्त पंच पापों को छोड़कर तीनों भोगों को वश में रखकर ध्यान, पूजन, स्वाध्याय, धर्मचर्चा आदि धर्मक्रियाओं से सोलह पहर किसी प्रकार के सांसारिक आरम्भ के किये बिना देता है वही प्रोषधोपवास करने वाला पूर्ण अहिंसाब्रती कहलाता है। सोलह पहर इस प्रकार हो जाते हैं कि- सप्तमी को एकाशन (एक बार भोजन) करके दोपहर के पश्चात् प्रोषधोपवास आरम्भ किया जाता है, इसलिये सप्तमी के आधे दिन के दो प्रहर, सप्तमी की पूरी रात्रि के चार पहर, अष्टमी के पूरे दिन के पहर, अष्टमी को पूरी रात्रि के चार पहर और नवमी के पहले आधे दिन (पूर्वार्ध) के दो पहर तक प्रोषधोपवास की विधि पूर्ण होती है, इसलिये सोलह प्रहर समय धर्मध्यान में बिताया

जाता है। सोलह पहर का ही उत्कृष्ट प्रोषधोपवास कहा जाता है। मध्यम बारह पहर का होता है तथा आठ पहर का जघन्य प्रोषधोपवास होता है। अष्टमी के पूरे दिन के चार पहर और अष्टमी को रात्रि के चार पहर इस प्रकार आठ पहर जघन्य प्रोषधोपवास पाला जाता है।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् ।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोपि हिंसायाः ॥(158)

अहिंसादि अणुब्रत पालने वाले संकल्पी त्रसहिंसा के तो त्यागी होते ही हैं, स्थावर हिंसा का उनके त्याग नहीं होता, इसका आशय यह है कि वे भोग उपभोग सामग्री का सेवन करते हैं उसी से अनिवार्य स्थावर हिंसा उनसे होती है, हिंसा का कारण आरम्भ है। भोगोपभोग पदार्थों के सेवन नियम से आरम्भ है इसलिये हिंसा है। परन्तु भोग-उपभोग वस्तुओं का परिमाण करने से स्थावर हिंसा भी छूट जाती है वैसी अवस्था में त्रसहिंसा और स्थावरहिंसा दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग होने से हिंसा का लेशमात्र भी नहीं होता, प्रोषधोपवास धारण करने वालों पुरुष भोग, उपभोग आदि सब प्रकार का आरम्भ सेवन छोड़ देता है। केवल धर्मारम्भ ही करता है, वैसी अवस्था में भोग उपभोग सेवन मूलक स्थावरहिंसा भी उसके नहीं होती, त्रसहिंसा का तो वह अणुब्रती होने से स्वयं त्यागी होता ही है।

वाग्गुसेनस्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुच्चः संगो नांगेष्यमूर्च्छस्य ॥(159)

प्रोषधोपवास पालने वाले पुरुष के शास्त्र स्वाध्याय आदि में वचनों की प्रवृत्ति होने से मिथ्या वचन नहीं निकलते। सब प्रकार के आदान (परपदार्थग्रहण) का त्याग होने से चोरी तो संभव ही नहीं है। वह स्वस्त्रीसंग का भी त्याग कर देता है इसलिए पूर्ण ब्रह्मचर्य पल जाता है और अपने शरीर में भी ममता नहीं रखता इसलिए उसके पर पदार्थों में ममत्वपरिणाम न होने से परिग्रह भी नहीं रहता। इस प्रकार यथाविधि प्रोषधोपवास पालने वाले के पाँच पापों में से एक भी पाप नहीं लगता।

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाब्रततित्वमुपचारात् ।
उदयति चारित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥(160)
जब प्रोषधोपवास करने वाला पुरुष भोगोपभोग का त्याग करने से स्थावर

हिंसा से बच जाता है, त्रसहिंसा का वह त्यागी होता ही है, वचनगुप्ति आदि पालने से अन्य चार पापों का त्यागी भी है इस प्रकार समस्त प्रकार की हिंसा का त्यागी होने से वह महाब्रती तुल्य है अर्थात् वास्तव में तो महाब्रती नहीं कहा जा सकता किन्तु उपचार से वह महाब्रती कहा जाता है। मुख्यता से महाब्रती क्यों नहीं कहा जाता ? इसका उत्तर यह है कि उसके प्रत्याख्यानावरणी कषाय का उदय हो रहा है वह सकलसंयम महाब्रत का धातक है इसलिए वह मुख्यतः से सकलसंयमी नहीं कहा जा सकता परन्तु त्रसस्थावर हिंसा का त्यागी होने से उपचरित महाब्रती कहा जाता है।

‘निर्दोष,
निनिदानाद्यं, तन्निर्जराप्रयोजनम्।
चित्तोत्साहेन सदबुद्ध्या तपनीयं तपः शुभम्॥’

अर्थात् - ‘निर्दोष, निदानरहित, सिर्फ निर्जरा के प्रयोजन से चित्त के उत्साहपूर्वक सदबुद्धि तथा विवेकपूर्वक शुभ तपस्या करनी चाहिए।’

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीड़या क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥गीता
सत्कारमानपूजायार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्युवम्॥’

जो तप मूढ़तापूर्वक या हठाग्रहपूर्वक केवल अपने को पीड़ा देने या दूसरों को हैरान करने के लिए किया जाता है, वह तापस कहलाता है। जो सत्कार, सम्मान और पूजा प्रतिष्ठा के लिए दम्भ पूर्वक किया जाता है, वह राजस तप है। वह चंचल और अस्थायी है।

श्रद्धया परया तसं तपस्तत् त्रिविधं नरः।
अफलाकाक्षिभिर्युक्तेः सात्त्विकं परिचक्षते॥

किसी प्रकार की फलाकांक्षा रखे बिना परम श्रद्धा से जो मानसिक वाचिक-कायिक त्रिविध तप किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है।

अध्याय - 3

प्रोष्ठोपवास के अतिचार

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च

संस्तरस्तथोत्सर्गः ।
पंचोपवासस्य ॥(192)।
पुरुषार्थसिद्धयुपाय पृ.212

जिसदिन प्रोष्ठोपवास किया जाता है उस दिन जलादि आहार मात्र का त्याग होने से शरीर में कुछ शिथिलता का आना स्वाभाविक बात है, ऐसी अवस्था में पूजन सामग्री, पूजन के अन्यान्य उपकरण, शास्त्रजी, चौकी आदि वस्तुओं को बिना देखे और झाड़े-पोछे ही उठाकर काम में ले लेना, यह अनवेक्षित- अप्रमार्जित- आदान नाम का अतिचार है। इसी में शरीर के ओढ़ने पहनने के वस्त्रादि भी बिना देखे बिना झाड़े- पोछे लिये जायें वे भी गर्भित हैं।

दूसरा अतिचार — अनवेक्षित- अप्रमार्जित- संस्तरोपक्रम है, उसका यह अभिप्राय है कि शिथिलता वश सोने की चटाई, शीतल पट्टी आदि जो बिस्तर और बैठने की आसन आदि वस्तुएँ हैं, बिना देखे बिना झाड़े- पोछे बिछा देना।

तीसरा अतिचार — अनवेक्षित- अप्रमार्जित- उत्सर्ग है, उसका अर्थ यह है कि बिना देखी, बिना साफ की हुई जमीन पर मलमूत्र कफ थूक आदि डाल देना।

चौथा अतिचार — स्मृत्यनुपस्थान है, इसका अर्थ यह है कि प्रोष्ठोपवास के दिन को एवं उसकी विधि आदि को भूल जाना।

पाँचवा अतिचार — अनादर है, अर्थात् प्रोष्ठोपवास में भोजन का त्याग होने से एवं शिथिलता आ जाने से पूर्ण आदरभाव नहीं रखना किन्तु उपेक्षा भाव से उसे पालना।

ये पाँच अतिचार प्रोष्ठोपवास व्रत में दोष पैदा करते हैं, क्योंकि बिना देखे भाले किसी वस्तु को धरा उठाया जायेगा तो पूरी संभावना है कि उस वस्तु पर

रहने वाले जीव अथवा धरने उठाने की जमीन पर रहने वाले जीव मर जायेंगे। इसी प्रकार बिस्तर या आसन को बिना देखे-भाले या जमीन को, बिना देखे-भाले बिछा देने से वहाँ के जीवों का ध्वंस होना सहज है। जिस भूमि पर जीव है उस पर मलमूत्र डालने से भी जीवों का बचना कठिन है इसलिये इन तीनों ब्रातों को अतिचारों में लिया गया है। इन तीनों में प्रत्येक के साथ- ‘अनवेक्षित अप्रमार्जित’ विशेषण लगाना चाहिये, पीछे के दो में नहीं। यहाँ पर शंका उठाई जा सकती है कि ‘बिना देखे’ बिना झाड़े पोछे उठाना और धरना ये दो ही अतिचार होने चाहिए, बिस्तर बिछाने को अलग और मलमूत्र क्षेपण को अलग क्यों ग्रहण किया है? इसका उत्तर यह है कि प्रोष्ठोपवास के दिन अन्यान्य गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्य तो सब बन्द हो जाते हैं, केवल पूजा के उपकरण और बिस्तरों से सम्बन्ध रह जाता है, इसलिये उनका अलग-अलग प्रमाद-होने से अलग-अलग अतिचार कहा गया है मलमूत्रकफादिक इनसे भिन्न ही वस्तु है, क्योंकि उपकरण एवं आसन तो व्यवहार के उपयोगी वस्तुएँ हैं परन्तु मल-मूत्रादि तो व्यवहारोपयोगी पदार्थ नहीं हैं, यदि उसे पृथक् न गिनाया जाता तो व्यवहारोपयोगी पदार्थों के गिनाने पर भी उसकी ओर ध्यान नहीं जाता, स्वतन्त्र गिनाने से उसके क्षेपण करते समय भी भूमि को देखभाल करने का ध्यान तुरन्त आ जाता है क्योंकि प्रत्येक अतिचार- दूषण को बचाने का ब्रती विचार किया करता है। प्रत्येक बात के पालने की चेष्टा करता है, इसलिये पृथक् पाठ रहने से विशेष सावधान रहने के लिये चित्त आकर्षित हो जाता है, अन्यथा नहीं होता।

प्रोष्ठोपवास को भूल जाना, उसकी किसी विधि का स्मरण नहीं रहना कभी पर्व समय को ही भूल जाना, और प्रोष्ठोपवास में शिथिलता वश अनादर करना अर्थात् उपेक्षाबुद्धि से उसकी विधि करते जाना, चित्त में उत्साह रखते हुये नहीं करना, ये दो अतिचार जुड़े हैं। इनके साथ अनवेक्षित- अप्रमार्जित विशेषण नहीं लगाया जाता। इन पाँचों अतिचारों को नहीं लगाने से जीव रक्षा हो सकती है, बिना इनके बचाये जीव रक्षा कठिन एवं असम्भव है, कारण छोटे-छोटे जन्तुओं का संचार प्रायः सर्वत्र रहता ही है। उसके बचाने के लिये प्रतिसमय देखभाल की आवश्यकता है, ब्रत विधान के समय तो विशेषता से आवश्यकता है। बिना देखभाल किये धरा उठायी करने से ब्रत की पूर्ण रक्षा नहीं हो सकती।

ग्रहणास्तरणोत्सर्गानवेक्षाप्रमार्जनान्।

अनादरमनैकाग्र्यमपि जहादिह व्रते।(40)(सागार धर्मामृत पृ.295)

अनवेक्षाप्रमार्जनग्रहण, अनवेक्षाप्रमार्जनस्तरण, अनवेक्षाप्रमार्जनोत्सर्ग, अनादर और अनेकाग्र यह प्रोष्ठोपवास के पाँच अतिचार हैं।

पोसो धरिै जिहि भूपरि, देखै नहि ताहि नजर करि।

इह अतीचार इक जाणी, दूजेको सुनो वरखाणी।(465)

क्रियाकोष पृ.73

जेती पोसहकी ठाम, प्रतिलेखै नांही ताम।

दूषण लागै है जाकौ, सुणि अतीचार तीजाकौ।(466)

पोसो धरणेकी वार, मोचै न मल मूत्र विकार।

मरज्यादा विनसौ डारै, संथारो जो विस्तारै।(467)

बैठे उठै तजि ठाम, तीजै दूषण को पाम।

पोसो धरता मनमांही, उच्छवको धरे नांही।(468)

बिनु आदर ही सों ठानै, मरज्यादा मनमें आनै।

चौथो इह है अतिचार, अब पंचम सुणि निरधार।(469)

पठि है जो पाठ प्रमाण, ठीक न ताको कछु जाण।

इह पाठ पढ्यो इक नांही, अब पढ्हिहों एम कहांही।(470)

जिस भूमि पर प्रोष्ठ का नियम धारण करना है उस भूमि को अच्छी तरह नहीं देखना, यह पहला अतिचार है। अब द्वितीय अतिचार का व्याख्यान सुनो। प्रोष्ठ का जो स्थान है उसका कोमल वस्त्रादि से प्रतिलेखन- परिमार्जन नहीं करना यह दूसरा अतिचार है। प्रतिलेखन न करने से प्रमादजन्य दोष लगता है। अब तृतीय अतिचार सुनो- प्रोष्ठ धारण करने के समय मलमूत्रादि विकार को नहीं छोड़ना अर्थात् इन क्रियाओं के करने में प्रमादवश लगने वाले दोषों को नहीं छोड़ना, जो सांथरा आदि बिछावे उसे मर्यादापूर्वक अर्थात् देखभाल कर नहीं बिछाना तथा अपना स्थान छोड़ इधर-उधर उठना बैठना यह तीसरा अतिचार है। प्रोष्ठ के रखते समय मन में उत्साह नहीं होना, आदर के बिना ही मन में मर्यादा लेना यह चतुर्थ अतिचार है। अब पंचम अतिचार का वर्णन सुनो- जो पाठ पढ़ता है उसका ठीक-ठीक स्मरण नहीं रखना, यह पाठ मैंने पढ़ा है या नहीं पढ़ा है, अब पढ़ूंगा इस प्रकार स्मृति का ठीक नहीं होना यह पाँचवाँ अतिचार है।

ए अतीचार भणि पंच, भाषै जिन आगम संच।
पोसो जो भविजन धरिहै, इनको टालो सो करिहै।(471)

फल लहे यथारथ सोई, यामें कछु फेर न जोई।

प्रोषध व्रतकी इह लीक, माफिक जिन आगम ठीक।(472)

जिनागम के अनुसार ये पाँच अतिचार कहे हैं। जो भव्यजीव प्रोषधव्रत धारण करते हैं वे जब इनका निराकरण अवश्य करते हैं, तभी यथारथ फल प्राप्त करते हैं इसमें अन्तर नहीं है। प्रोषधव्रत की यह विधि जिनागम के अनुसार कही है।

अदृष्टमृष्टव्युत्सर्गादानसंस्तरणानि स्युः।

प्रोषधेऽनादरः प्रोक्तस्ततश्चास्मरणं भवेत्।(67)

अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग, अदृष्टमृष्ट आदान, अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण, प्रोषध में अनादर और अस्मरण ये पाँच प्रोषधोपवास के अतिचार गिने जाते हैं।

प्रमार्जनावलोकाभ्यां बिना भूमौ हि यः क्षिपेत्।

कायादिं मलं दोषमुत्सर्गाख्यं लभेत् ना।(68)

जो बिना देखे, बिना सोधे अपने काम में आने योग्य जल आदि को पृथ्वी पर रख देता है उसके अदृष्टमृष्ट व्युत्सर्ग नाम का दोष लगता है।

बिना यो दृष्टमृष्टाभ्यां वंशं पूजादिवस्तु वा।

क्षुत्पीडितोऽभिगृह्णाति चादानातिक्रमं श्रयेत्।(69)

जो मनुष्य क्षुधा से पीड़ित होकर वा अन्य किसी कारण से बिना देखे वस्त्र वा पूजा के पदार्थों को ग्रहण करता है उसके अदृष्टमृष्टदान नाम का अतिचार लगता है।

पिच्छिकानेत्रकर्मभ्यां बिना रात्रौ प्रमादतः।

विधत्ते संस्तरं योऽस्य संस्तरातिक्रमो भवेत्।(70)

जो मनुष्य प्रमाद के कारण रात्रि में पीछे से बिना शोधे वा नेत्रों से बिना देखे बिछौना वा सांथरा (सोने के लिए चटाई आदि का बिछाना) करता है उसके अदृष्टमृष्ट संस्तरोपकरण नाम का अतिचार लगता है।

क्षुधादिपीडितो योऽपि पुमानावश्यकादिषु।

अनादरं विधत्ते सः श्रयेदोषमनादरम्।(71)

जो मनुष्य क्षुधा से पीड़ित होकर (भूख से घबड़ाकर) आवश्यक आदि कार्यों में अनादर करता है उसके अनादर नामका दोष लगता है।

गृहकार्यादिसंसक्तो यः करोति न निश्चलम्।

चित्तं कामार्थसंयुक्तं भजेदस्मरणं स ना।(72)

अपने हृदय को घर के काम में आसक्त रखनेवाला अथवा काम अर्थ इन दो ही पदार्थों में हृदय को आसक्त रखनेवाला जो पुरुष अपने चित्त को निश्चल नहीं करता है उसके अस्मरण नामका दोष लगता है। (जिसका चित्त निश्चल नहीं है उससे भूल हो जाना स्वाभाविक ही है इसलिए चित्त का स्थिर न रहना ही अस्मरण कहलाता है।)

कृत्वातिनिश्चलं चित्तं यो धत्ते प्रोषधं सुधीः।

प्रमादानपि संत्यक्त्वा सोऽतीचारं लभेत् न।(73)

जो बुद्धिमान् समस्त प्रमादों को छोड़कर और अपने हृदय को निश्चल कर प्रोषधोपवास करता है उसके कोई अतिचार नहीं लग सकता।(प्रश्नोत्तर श्रावकाचार पृ.सं.382)

1. भाव विसुद्ध णिमित्तं बहिरंगंथस्स कीरए चाओ।

बाहिरचाओ विलो अब्धंतर गंथजुत्तस्त॥

भाव विशुद्धि के लिये बहिरंग त्याग करना चाहिये। अन्तरंग विशुद्धि के बिना बहिरंग त्याग विफल है।

2. भजध्वं शमदमयमयोगैर्धर्ममेकं सुदक्षाः।

शम, दम, यम, योग से एक धर्म का ही निरन्तर पालन करें।

3. योगजा सिद्ध्यस्तेषामिनादि गुणद्वयः।

प्रादुरासिन्विशुद्ध हि तपः सूत महन्फलम्॥(आदि.पु.)

योग से उन्हें (मुनि आदिनाथ) महान् क्रदियों की सिद्धि हो गई थी, ठीक ही है विशुद्ध तप महाफल को देता है।

उपवास का फल

यः पर्वणुपवासं हि विद्यते भावपूर्वकम्।
नाकराज्यं च सम्प्राप्य मुक्तिनार्थं वरिष्यति ॥(28)

(प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, पृ.372)

जो पुरुष पर्व के दिनों में भावपूर्वक उपवास करते हैं वे स्वर्ग के राज्य का उपभोग करके अन्त में अवश्य मुक्ति स्त्री के स्वामी होते हैं।

प्रोष्ठं नियमेनैव चतुर्दश्यां करोति यः।
चतुर्दशगुणस्थानान्यतीत्य मुक्तिमानुयात् ॥(29)

जो चतुर्दशी के दिन नियमपूर्वक प्रोष्ठोपवास करता है वह चौदह गुणस्थानों को पार कर मोक्ष में जा विराजमान होता है।

चतुर्दश्या समं पर्व नास्ति कालत्रये वरम्।
धर्मयोग्यं महापूतमुपवासादिगोचरम् ॥(30)

चतुर्दशी के समान धर्म करने योग्य महा पवित्र और उपवास प्रोष्ठोपवास आदि करने योग्य उत्तम पर्व तीनों कालों में भी अन्य कोई नहीं हो सकता।

प्रोष्ठं यच्चतुर्दश्यामेकचित्तिने सम्भज्ञेत्।
प्राप्य षोडशकं नाकं ब्रजेन्मुक्तिवरांगगनाम् ॥(31)

जो चतुर्दशी के दिन चित्त लगाकर प्रोष्ठोपवास करता है वह सोलहवें स्वर्ग के सुख भोगकर मुक्तिरूपी सर्वोत्तम स्त्री के समीप जा पहुँचता है।

द्विसप्ताद्युपवासेन पापं हत्वा गृहादिजम्।
चतुर्दशादिसञ्जातं महापुण्यं लभेत ना ॥(32)

जो प्रत्येक चतुर्दशी के दिन घर सम्बन्धी समस्त पापों को छोड़कर उपवास करता है वह चतुर्दशी को उपवास करने से महा पुण्य उपार्जन करता है।

प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यश्चतुर्दश्यां ही धीधनैः।

उपवासोऽतिधर्मर्थं काममोक्षफलप्रदः ॥(33)

बुद्धिमानों को चतुर्दशी के दिन धारण किया हुआ उपवास प्राण नष्ट होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि चतुर्दशी के दिन धारण किया हुआ उपवास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को देनेवाला है।

अष्टम्यामुपवासं हि ये कुर्वन्ति नरोत्तमाः।

हत्वा कर्माष्टकं तेऽपि यान्ति मुक्तिं सुदृष्ट्यः ॥(34)

जो सम्यग्दृष्टि उत्तम पुरुष अष्टमी के दिन उपवास करते हैं वे आठों कर्मों को नष्ट कर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं।

अष्टमीदिवसे सारे यः कुर्यात्प्रोष्ठं वरम्।

इन्द्रराज्यपदं प्राप्य क्रमाद्याति स निर्वृतिम् ॥(35)

अष्टमी का दिन सब में सारभूत है। उस दिन जो उत्तम प्रोष्ठोपवास करता है वह इन्द्र का साम्राज्य पाकर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करता है।

नियमेनोपवासं यस्त्वष्टम्यां कुरुते पुमान्।

स्वाष्टकर्माणि हत्वा स भजेत्सारं गुणाष्टकम् ॥(36)

जो पुण्य प्राप्त करने के लिए अष्टमी के दिन नियमपूर्वक उपवास करता है वह अपने आठों कर्मों को नष्ट कर सम्यक्त्वज्ञान दर्शन आदि सिद्धों के सर्वोत्तम आठों गुणों को धारण करता है।

सदाष्टम्युपवासस्य धर्मेण गृहनायकाः।

अष्टादिदिनजं पापं हत्वा पुण्यं भजन्ति वै ॥(37)

जो गृहस्थ अष्टमी के दिन उपवास धारण कर धर्म पालन करते हैं वे इस दिन के समस्त पापों को नष्ट कर महा पुण्य उपार्जन करते हैं।

तस्मात्र प्रोष्ठस्त्याज्यस्तैरष्टम्यां च गृहान्वितैः।

धर्मार्थकाममोक्षादिप्रदः प्राणात्यये क्वचित् ॥(38)

इसलिये गृहस्थी पुरुषों को प्राण नष्ट होने पर भी अष्टमी के दिन का प्रोष्ठोपवास कभी नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि अष्टमी के दिन किया हुआ उपवास धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थों को देने वाला है।

इति मत्वा सदा सारमुपवासचतुष्यम्।

मासमध्ये कुरु त्वं हि धर्माय त्यज काम्या।(39)

इसलिए हे भव्य! तू बिना किसी इच्छा के केवल धर्मपालन करने के लिए प्रत्येक महीने में सारभूत चार (दो अष्टमी के दो चतुर्दशी के) उपवास कर।

कायसेवां प्रकुर्वन्ति शठाः सर्वदिनेषु ये।

उपवासादिकं त्यक्त्वा मज्जन्ति श्वभ्रसागरे।(40)

जो मूर्ख पर्व के दिनों में उपवास को छोड़कर कामसेवन करते हैं वे नरक रूपी महासागर में अवश्य डूबते हैं।

अष्टम्यादिदिने सारे रमन्ते रामया सह।

तस्या अमेध्यमध्ये ते कृष्णयोनि भजन्त्यधात्।(41)

जो सारभूत अष्टमी के दिन स्त्री सेवन करते हैं वे उस पापकर्म के उदय से मरकर विष्णु के कीड़ा होते हैं।

चतुर्दश्यादिकं पर्वत्रतं कुर्वन्ति ये न वै।

दरिद्रत्वं च कलीबत्वं ते भजन्ति भवे भवे।(42)

जो चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में व्रत नहीं करते वे भव-भव में दरिद्री और नपुंसक होते हैं।

इति मत्वा बुधैः कार्यं तपोऽनानगोचरम्।

पर्वादिषु विशिष्टेषु स्वमुक्तिश्रीवशीकरम्।(43)

यही समझकर बुद्धिमानों को पर्व आदि के विशेष दिनों में उपवास नाम का तपश्चरण अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह पर्व के दिनों में किया हुआ उपवास स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मी को वश करने वाला है।

तपो मुक्तिपुरीं गन्तुं पाथेयं स्याद्दि पुष्कलम्।

मुक्तिरामावशीकर्तुं तपो मन्त्रोऽङ्गिनां भवेत्।(44)

यह उपवासजन्य तपश्चरण मुक्तिरूपी नगर में जाने के लिए भरपूर पाथेय (मार्ग में खाने योग्य पदार्थ) है तथा यही उपवासरूपी तपश्चरण मुक्तिरूपी स्त्री को वश करने के लिए परम मन्त्र है।

तपः समीहितस्यैव दातुं कल्पद्रुयो भवेत्।

तपश्चिन्तामणिज्ञेयश्चिन्तितार्थप्रदोऽङ्गिनाम्।(45)

यह उपवासरूपी तपश्चरण इच्छानुसार पदार्थों के देने के लिए कल्पवृक्ष है और यही तपश्चरण मन में सोचे हुए पदार्थों को देने के लिए चिन्तामणि रत्न के समान है।

तपः कामदुधाप्युक्ता कामितार्थप्रदा बुधैः।

तपोनिधिश्च रत्नादि सर्ववस्त्वाकरो भवेत्।(46)

विद्वान् लोग इसी तपश्चरण को रत्न आदि समस्त पदार्थों की खानिभूत निधि कहते हैं।

तपः आकर्षणे मन्त्रं सर्वलोकस्थितश्रियाः।

तपः औषधमेव स्याज्जन्मज्वरविघातने।(47)

तीनों लोकों में रहने वाली लक्ष्मी को आकर्षण करने-अपनी ओर खींचने के लिए यही उपवासरूपी तप परममन्त्र है तथा जन्ममरण रूपी ज्वर को दूर करने के लिए यही उपवास परम औषध है।

तपः कर्ममहारण्यदहने ज्वलनोपमम्।

तपः पापमलापाये जलं प्रोक्तं गणाधिष्ठैः।(48)

कर्मरूपी महावन को जला देने के लिए यही तपश्चरण अग्नि के समान है और पापरूपी मल को धोने के लिए गणधर देवों ने इसी उपवासरूपी तपश्चरण को जल के समान बतलाया है।

तपो वज्रं जिनै रुक्तं दुरिताद्रिविखण्डने।

तपोऽशुभमहाशत्रुं हन्तुं तीक्षणायुधोपमम्।(49)

पापरूपी पर्वत को चूर-चूर करने के लिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने इसी तप को वज्र बतलाया है और यही तपश्चरण अशुभरूपी महा शत्रुओं को नष्ट करने के लिए तीक्ष्ण शस्त्रों के समान है।

तपः सिंहो भवेदक्षो मत्तमातङ्गधातने।

मनोमर्कटसंरोधे तपः पाशोऽङ्गिनां मतः।(50)

इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथी को मारने के लिए तपश्चरण सिंह के समान है और मनरूपी बन्दर को रोकने वा वश करने के लिए यही तपश्चरण ज़ाल के समान

माना जाता है।

तपसालङ्कृतो धीमान् यद् यद् वस्तु समीहते।
तत्तदेव समायाति त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।(51)

तपश्चरण से सुशोभित होनेवाला बुद्धिमान् तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाले और तीनों लोकों में रहनेवाले जिन जिन पदार्थों की इच्छा करता है वे सब पदार्थ उसके समीप अपने आप आ जाते हैं।

एकचित्तेन यो धीमान् मुक्तिस्त्रीरञ्जिताशयः।
तपः करोति तस्यैव किञ्चिल्लोके न दुर्लभम् ।(52)

जिसका हृदय मुक्तिरूपी स्त्री में आसक्त है ऐसा जो बुद्धिमान् पुरुष एकाग्रचित्त होकर तपश्चरण करता है उसके लिए इस संसार में कोई दुर्लभ नहीं है।

ये बुधः मुक्तिमापन्ना यन्ति यास्यन्ति निश्चितम्।
केवलं तपसा तेऽपि नान्येन केन हेतुना ।(53)

जो बुद्धिमान् पहिले मोक्ष जा चुके हैं, अब जा रहे हैं अथवा आगे जायेंगे वे केवल तपश्चरण से ही गये हैं, तपश्चरण से ही जा रहे हैं और तपश्चरण से ही जायेंगे। तपश्चरण के सिवाय अन्य किसी भी कारण से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

हीने संहने धीरा ये कुन्ति तपोधनम्।
स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य ते धन्या विदुषां मताः ।(54)

जो धीरवीर पुरुष अपनी शक्ति को प्रगट कर तपश्चरणरूपी धन का संग्रह करते हैं वे विद्वानों के द्वारा इस संसार में धन्य माने जाते हैं।

तीर्थनाथा ध्रुवं मुक्तिनाथा इन्द्रादिपूजिताः।
तपः कुर्वन्ति तेऽत्यन्तं षण्मासावधिगोचरम् ।(55)

तीर्थकर परमदेव होनहार मोक्ष के स्वामी हैं और इन्द्रादिक सब इनकी पूजा करते हैं परन्तु वे भी दो दिन चार दिन महीने दो महीने वा छह छह महीने तक के उपवास वाले तपश्चरणको करते हैं।

आदिश्रीजिनदेवोऽपि सर्वं गणधरादिमिः।
तपः करोति लोकेस्मिंस्तर्हन्यैः क्रियते न किम् ।(56)

इस संसार में भगवान् श्री ऋषभदेव ने भी गणधरों के साथ तपश्चरण किया था फिर भला अन्य लोगों की तो बात ही क्या है, उन्हें तो अवश्व करना चाहिए।

तम् यथाग्निना हेमं शुद्धं भवति योगतः।
जीवस्तपोग्निना तमः शुद्धो दृष्ट्यादियोगतः ।(57)

जिस प्रकार सुहागा आदि के संयोग से अग्नि के द्वारा तपाया हुआ सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सम्यदर्शन-संयोग से तपरूपी अग्नि के द्वारा तप हुआ यह जीव कर्ममल कालिमा से रहित होकर शुद्ध हो जाता है।

यदवन्मलभृतं वस्त्रं शुद्धं नीरेण स्याद् ध्रुवम्।
तपोजलेन धौतो हि जीवः शुद्धो भवेन्महान् ।(58)

जिस प्रकार मैल लगा हुआ वस्त्र पानी से धोने पर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार तपरूपी जल से धुल जाने पर अत्यन्त नीच पुरुष भी शुद्ध हो जाता है।

ये तपो नैव कुर्वन्ति स्थूल देहादिलम्पटाः।
रोगक्लेशादिजं दुःखं ते लभन्ते भवे भवे ।(59)

स्थूल शरीर में आसक्त होकर जो पुरुष तपश्चरण नहीं करते वे पुरुष भव-भव में रोग क्लेश आदि के बहुत से दुःखों को भोगते रहते हैं।

तपोहीनो भवेद्रोगी दुःखदारिद्रियपीडितः।
इहामुत्र महापापात् श्वभृतिर्यगतिं व्रजेत् ।(60)

जो तपश्चरण नहीं करता वह इस लोक में रोग दुःख और दरिद्रता आदि से महादुःखी होता है तथा परलोक में अनेक पापों का उपार्जन कर नरक और तर्यच गति के अनेक दुःखों को भोगता है।

तपोलंकारत्यक्तो यो लिप्तः पापमलादिभिः।
तस्य दुःखं न शक्तोऽहं वकुं श्वभ्रादिगोचरम् ।(61)

जिसने तपरूपी आभूषण छोड़ दिया है और जो पाप रूपी मैल में सदा आसक्त रहता है उसको मिलने वाले नरक आदि के दुःखों को हम लोग कह भी नहीं सकते हैं।

तपो यो न विधत्ते ना कुयाद्रागादिरोगतः।
लङ्घनादिसमूहं स पक्षमासादिगोचरम् ।(62)

जो राग द्वेष रूपी रोगों के कारण तपश्चरण नहीं करता उसे पन्द्रह पन्द्रह दिन महीने महीने भर के लंघन करने पड़ते हैं अथवा और भी ऐसे ही अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं।

तपो विना पुमान् ज्ञेयः पशुरेव न संशयः।

इहामुत्र भवेद् दुःखी सर्वाह्नि परिभक्षणात्॥(63)

तपश्चरण के बिना यह मनुष्य पशु ही है इसमें कोई सन्देह नहीं। उपवास रूपी तपश्चरण के बिना लगातार सब दिन भक्षण करने से यह जीव अवश्य ही दुःखी होता है।

इति मत्वा तपो मित्र! स्वशक्त्या कुरु प्रत्यहम्।

धीर त्वं प्रकटीकृत्य स्वकर्मक्षयहेतवे॥(64)

यही समझकर हे धीर वीर मित्र! अपने कर्मों को नष्ट करने के लिए अपनी शक्ति को प्रगट कर तू प्रतिदिन तपश्चरण कर।

नियमेनैव यो दध्याच्चतुःपर्वपु प्रोषधम्।

पञ्चातिचारनिष्क्रान्तः श्रयेत् त्रैलोकजं सुखम्॥(65)

जो पाँचों अतिचारों को छोड़कर प्रत्येक महीने के चारों पर्वों में नियम पूर्वक प्रोषधोपवास करता है वह तीनों लोकों के समस्त सुखों को प्राप्त होता है।

दुरितवनमहाग्निं धर्मवृक्षस्य मेघं,

सकलसुखसमुद्रं दुःखदावाग्निवृष्टिम्।

सुरशिवगतिमार्गं साधुलोकैः सुसेव्यं

भज विमलगुणाप्त्यं प्रोषधं पर्वसारे॥(74)

यह प्रोषधोपवास पाप रूपी वन को जलाने के लिए महा अग्नि है, धर्मरूपी वृक्ष को बढ़ाने के लिए मेघ की धारा है, समस्त सुखों का सागर है, दुःख रूपी दवानल अग्नि को शान्त करने के लिए पानी की वर्षा है, स्वर्ग मोक्ष का कारण है और साधु लोग भी इसकी सेवा करते हैं इसलिए हे भव्य! निर्मल गुणों को प्राप्त करने के लिए सारभूत पर्व के दिनों में तू इस प्रोषधोपवास को धारण कर।

अमलगुणनिधानं

विषयवनदवाग्निं

सकलभुवनपूजं

बुध भज परिमुक्त्यै चोपवासं सदा त्वम्॥(75)

यह प्रोषधोपवास निर्मल गुणों का निधान है, अपने हृदयरूपी सर्प को वश में करने के लिए महामन्त्र है, विषयरूपी वन को जला देने के लिए दावानल अग्नि है, कर्मरूपी वन को काटने के लिए कुठार है, तीनों लोक इसकी पूजा करता है और तीर्थकर परमदेव ने इसका निरूपण किया है। इसलिए हे विद्वन्! मोक्ष प्राप्त करने के लिए तू इस प्रोषधोपवास को सदा धारण कर।

स्वर्गश्रीरूपयाति तं च विमला मुक्तिस्तमालोक्यते,

सद्वाणी स्वयमेव कीर्तिरतुला राज्यादिलक्ष्मीः धृवम्।

दुर्दान्तेन्द्रियमत्तहस्तिहनने सिंहोपमं धर्मदं

पापारिक्षयदं बुधो हि कुरुते यः प्रोषधं पर्वसु॥(76)

यह प्रोषधोपवास किसी के वश न होनेवाली इन्द्रियरूपी मदोन्मत्त हाथी को मारने वा वश करने के लिए सिंह के समान है, धर्म को प्रगट करनेवाला वा देनेवाला है और समस्त पापों को नाश करनेवाला है इसलिए जो बुद्धिमान प्रत्येक पर्व के दिनोंमें इस प्रोषधोपवास को धारण करता है उसके समीप स्वर्ग की 'लक्ष्मी' अपने आप आ जाती है, निर्मल मुक्ति भी उसे सदा देखती रहती है, श्रेष्ठ वाणी व सरस्वती अपने आप आ खड़ी होती है, उसकी कीर्ति चारों ओर फैल जाती है और अनुपम मोक्षरूपी राज्य की लक्ष्मी उसे अवश्य प्राप्त होती है, अतएव गृहस्थों को पर्व के दिनों में अवश्य प्रोषधोपवास करना चाहिए।

सर्वेषामेव जीवानां हिंसाया विरतिस्तथा।

शान्त्या हि सर्वदुखानां सहनं तप इष्यते॥(1)

(कुरलकाव्य पृ.27)

शान्तिपूर्वक दुःख सहन करना और जीवहिंसा न करना, बस इन्हीं में तपस्या का समस्त सार है।

तपो नूनं महतेजस्तेजस्विन्येव शोभते।

निस्तेजसि तपः किन्तु निष्कलं जायते सदा॥(2)

तपस्या तेजस्वी लोगों के लिए ही है दूसरे लोगों का तप करना निरर्थक है।

ऋषीणां परिचर्यार्थं केचिदावश्यका जनाः।
इतीव न तपस्यन्ति किमन्ये धर्मवत्सलाः॥(3)

तपस्वियों को आहारदान तथा उनकी सेवा शुश्रूषा के लिए भी कुछ लोग आवश्यक हैं क्या इसी विचार से इतर लोगों ने तप करना स्थगित कर रखा है।

रिपूणां निग्रहं कर्तुं सुहृदान्चाप्यनुग्रहम्।
यदीच्छा तर्हि तत्यस्व तपस्तद्रयसाधनम्॥(4)

यदि तुम अपने शत्रुओं का नाश करना और उन लोगों को उन्नत बनाना चाहते हो जो तुम्हें प्रेम करते हैं, तो ध्यान रखो कि यह शक्ति तप में है।

सर्वेषामेव कामानां सुसिद्धौ साधनं तपः।
अतएव तपस्यार्थं यतन्ते सर्वमानवाः॥(5)

तप समस्त कामनाओं को यथेष्ट रूप से पूर्ण कर देता है, इसीलिए लोग जगत् में तपस्या के लिए उद्योग करते हैं।

ये कुर्वन्ति तपो भक्तया श्रेयः कुर्वन्ति तेऽन्जसा।
अन्ये तु लालसाबद्धा आत्मनो हानिकारकाः॥(6)

जो लोग तपस्या करते हैं वे ही वास्तव में अपना भला करते हैं और सब तो लालसा के जाल में फँसे हुए हैं जो कि अपने को केवल हानि ही पहुँचाते हैं।

यथा भवति तीक्षणाग्निस्तथैवोज्ज्वलकान्वनम्।
तपस्येवं यथाकष्टं मनः शुद्धिस्तथैव हि॥(7)

सोने को जिस आग में पिघलाते हैं वह जितनी ही अधिक तेज होती है सोने का रंग उतना ही अधिक उज्ज्वल निकलता है। ठीक इसी तरह तपस्वी जितने ही बड़े कष्टों को सहता है उसके उतने ही अधिक आत्मिक भाव निर्मल होते हैं।

प्रभुत्वं वर्तते यस्य स्वस्यात्मन्येव वस्तुनि।
सम्पूजन्ति तं सर्वे निष्कामं पुरुषोत्तमम्॥(8)

देखो! जिसने अपने पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है उस पुरुषोत्तम को सभी

लोग पूजते हैं।

शक्तिसिद्धीउभेयस्य संप्राप्ते तपसोबलात्।
मृत्योरपि जये तस्य साफल्यं दृश्यते स्फुटम्॥(9)

देखो! जिन लोगों ने तप करके शक्ति और सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मृत्यु को जीतने में भी सफल हो सकते हैं।

अतृपाः सन्त्यसंख्याता अभिलाषावशंवदाः।
अधिका हि तपोहिना विरलाश्च तपस्विनः॥(10)

यदि जगत् में दीनों की संख्या अधिक है तो इसका कारण यही है कि वे लोग जो तप करते हैं थोड़े हैं और जो तप नहीं करते हैं उनकी संख्या अधिक है।

- (1) भाव विसुद्ध णिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिर चाओ विहलो अण्भंतर गंथजुत्तस्स॥
 - भाव विशुद्धि के लिये बहिरंग त्याग करना चाहिये। अन्तरंग विशुद्धि के बिना बहिरंग त्याग विफल है।
 - (2) भजहवं शमदमयम् योगैधर्ममेकं सुदक्षाः।
शम, दम, यम, योग से एक धर्म का ही निरन्तर पालन करें।
 - (3) योगजा सिद्ध्यस्तेषार्णाणमादि गुणद्वयः।
प्रादुरासिन्विशुद्ध हि तपः सूत गहनफलम्॥
- (आदि.पु.)

योग से उन्हें (मुनि आदिनाथ) महान् ऋषियों की सिद्धि हो गई थी, ठीक ही है विशुद्ध तप महाफल को देता है।

समाधि पूर्वक उपवास से सर्वार्थसिद्धि की प्राप्ति
इह ललितघटाख्या मांससेवादियुक्ता
मृतिसमयगृहीताच्चोपवासाद्विशुद्धात्।
अगमदमलसौख्यां चारुसर्वार्थसिद्धिम्
उपवसनमतोऽहं तत्करोमि त्रिशुद्ध्या॥(7)
(पुण्यास्त्रवकथा कोशम् पृ.231)

ललितघट इस नाम से प्रसिद्ध जो श्री वर्धन आदि कुमार यहाँ मांस भक्षण आदि व्यसनों में आसक्त थे वे सब मरण के समय में ग्रहण किये गये निर्मल उपवास के प्रभाव से उत्तम सुख के स्थानभूत सुन्दर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त हुए हैं। इसलिए मैं मन, वचन व काय की शुद्धिपूर्वक उस उपवास को करता हूँ।

वत्स देश के भीतर कौशाम्बी पुरी में हरिघ्वज नाम का राजा राज्य करता था। रानी का नाम वारुणी था। उनके श्री वर्धन आदि बत्तीस पुत्र थे। बत्तीस ये राजपुत्र तथा पांच सौ मन्त्रिपुत्र इनमें परस्पर मित्रता थी। वे सब एक ही स्थान में जाते-आते व ठहरते थे। चूँकि वे सब ही सुन्दर थे, इसलिए मनुष्य उन सबको 'ललितघट' नाम से सम्बोधित करने लगे थे। वे सब एक दिन शिकार के विचार से श्री कान्त पर्वत पर गये। वहाँ जाकर उन सबने जब मृगों के ऊपर बाण छोड़े तब उनके धनुष चूर्ण-चूर्ण हों गये और वे सब गिर गये। पश्चात् वे उठकर इस आश्चर्यजनक घटना की खोज करने लगे। उस समय उन्हें एक अभयधोष नाम के मुनि दिखाई दिये। उनमें से कितनों के मन में विचार आया कि यह कृत्य इसी ने किया है। इससे वे ब्रोधित होकर मुनि का अनिष्ट करने के लिए उद्यत हो गये। परन्तु श्रीवर्धन ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। तब उन सबने मुनि को नमस्कार किया। मुनि ने सबको धर्मवृद्धि कह कर आशीर्वाद दिया। श्री वर्धन के पूछने पर मुनि ने धर्म की प्ररूपणा की। धर्मश्रवण करने के पश्चात् श्रीवर्धन कुमार ने उनसे अपनी आयु के प्रमाण को पूछा। मुनि ने कहा कि तुम सबकी आयु अब एक मास प्रमाण ही शेष रही है। यदि तुम इस बात का निश्चय करना चाहते हो तो इन घटनाओं को देखकर कर सकते हो- जब तुम अपने नगर को वापिस जाओगे तब तुम्हें बीच में अनेक फणों से भयानक सर्प तुम्हारे मार्ग को रोककर स्थित मिलेगा। परन्तु वह आप लोगों की भर्त्सना से दृष्टि से ओझल हो जावेगा। उसके आगे तुम सब मार्ग में बैठे हुए एक मनुष्य बालक को देखोगे। वह तुम लोगों को देखकर वृद्धिंगत होता हुआ भयानक राक्षस के रूप में तुम सबको निगलने के लिए आवेगा। परन्तु वह भी तुम्हारी भर्त्सना से दृष्टि के ओझल हो जावेगा। तत्पश्चात् नगर के भीतर प्रवेश करके जब तुम राज्यमार्ग से अपने भवन को जाओगे तब कोई अन्धी स्त्री महल के उपरिम भाग से बालक के मल को पृथ्वी पर फेंकेंगी और वह श्री वर्धनकुमार के सिर पर पड़ेगा। तथा अगली रात को आप लोगों की मातायें यह स्वप्न देखेंगी कि आप लोगों को राक्षस ने खा लिया है। बस, इन सब घटनाओं

को देखकर मेरे वचन को तुम सत्य समझ लेना। इस प्रकार मुनि के कथन को सुनकर वे आश्चर्यान्वित होते हुए नगर की ओर पाये। मार्ग में जाते हुए उन सबने जैसा कि मुनि ने कहा था उन सभी घटनाओं को देख लिया। इससे विरक्त होकर उन सबने अपने-अपने माता-पिता की स्वीकृति लेकर उन मुनि के निकट में दीक्षा धारण कर ली। तत्पश्चात् वे सन्यास को ग्रहण करके प्रायोपगमन (स्व-परवैयावृत्ति का त्याग) के साथ यमुना नदी के तट पर स्थित हुए। ठीक एक मास के अन्त में वे असमय में हुई वर्षा के कारण वृद्धि को प्राप्त हुए यमुना के प्रवाह में बह गये। इस प्रकार समाधि के साथ मरण को प्राप्त होकर वे सब सर्वार्थसिद्धि विमान में देव हुए। इस प्रकार वे मांस भक्षणादि में आसक्त होकर भी अन्त में ग्रहण किये उपवास के प्रभाव से जब वैसी समृद्धि को प्राप्त हुए हैं तब दूसरा जो जिनभक्त जीव अपनी शक्ति के अनुसार विशुद्धि पूर्वक उपवास को करता है वह क्या वैसी समृद्धि को नहीं प्राप्त होगा? अवश्य होगा।

उपवास से चाण्डाल देव हुआ

श्वपचकुलभवो	ना	भूरिदुःखी	च	कुष्ठी
व्यभवदमरदेही				दिव्यकान्तामनोजः।
अनशनसुविधायी		स्वस्य		देहावसाने
उपवसनमतोऽहं		तत्करोमि		त्रिशुद्धया ॥(8)

(पुण्यास्त्रवकथाकोशम् पृ.233)

जो मनुष्य चाण्डाल के कुल में उत्पन्न होकर अतिशय दुःखी और कोढ़ी था वह उपवास को करके उसके प्रभाव से अपने शरीर को छोड़ता हुआ देव पर्याय को प्राप्त हुआ। तब वह देवांगनाओं के लिए कामदेव के समान सुन्दर प्रतीत होता था। इसीलिए मैं मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक उस उपवास को करता हूँ।

जम्बूद्वीप के भीतर पूर्व विदेह में एक पुष्कलवती नाम का देश व उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है। वहाँ राजा श्रीपाल और वसुपाल राज्य करते थे। एक समय उस नगर के बाहर शिवंकर उद्यान में भीम नामक केवली का समवसरण स्थित हुआ। वहाँ खचरवती (सुखावती), सुभगा, रतिसेना और सुसीमा नाम की चार व्यन्तर देवियाँ आईं। उन्होंने केवली से पूछा कि हमारा पति कौन होगा? केवली ने कहा कि इसी नगर में पहले एक चण्ड नाम का चाण्डाल उत्पन्न हुआ था। उसे वसुपाल राजा ने विद्युद्रेग चोर के साथ लाख के घर में रखकर मार डाला

था। उसके एक अर्जुन नाम का पुत्र था। उसके शरीर में उदुम्बर कुष्ठ रोग हो गया था। इससे कुटुम्बी जैनों ने उसे घर से निकाल दिया था। वह घर से निकलकर इस समय सुरगिरि पर्वत के ऊपर कृष्ण गुफा में सन्यास के साथ स्थित है। वह पाँचवे दिन शरीर को छोड़कर तुम्हारा पति होगा। इसको सुनकर वे चारों व्यन्तर देवियाँ उस सुरगिरि पर्वत पर गई और उससे बोली कि है अर्जुन! तुम पाँचवे दिन शरीर को छोड़कर हम लोगों के पति होओगे, यह हमें भीम केवली ने बतलाया है। इसलिए तुम परीषह से पीड़ित हो करके संक्लेश न करना। इस प्रकार से उसे सम्बोधित करती हुई वे चारों उसी के पास स्थित हो गई। उस समय कुबेरपाल नाम का राजपुत्र वहाँ क्रीड़ा के लिये आया। उनको देखकर उसने क्रोध के आवेश में कहा कि यह चाण्डाल कोढ़ी है, इसलिए इस निकृष्ट को छोड़कर तुम मुझसे अनुराग करो। उनने उत्तर दिया कि हम देवियाँ हैं और तुम हो मनुष्य, इसलिए तुम यह असम्बद्ध बात क्यों बोलते हो? यदि तुम भोगों की अभिलाषा रखते हो तो धर्म में निरत हो ज्ञाओ। इससे हम लोगों की तो बात ही क्या, तुम्हें सौधर्मादि स्वर्गों में हमसे भी विशिष्ट देवियाँ प्राप्त हो सकेंगी। तब कुबेरपाल वहाँ से चला गया। तत्पश्चात् वहाँ नागदत्त सेठ का पुत्र भवदत्त आया। उसने भी उनको देखकर वैसा ही कहा। तब उन सबने उसे भी वही उत्तर दिया जो कि कुबेरपाल के लिए दिया था। तत्पश्चात् वह कामज्वर से मरकर अपने पिता के द्वारा बनवाये गये नागभवन में उत्पल नाम का व्यन्तर हुआ। वह अर्जुन उन बहुत-सी देवियों का सुरदेव नाम का देव उत्पन्न हुआ। वह परिवार के साथ भीमकेवली की वंदना के लिये आया। उसको देखकर और उसके वृत्तान्त को जानकर भीम केवली की समवसरण सभा में स्थित कितने ही जीव प्रोष्ठ में निरत हो गये। इस प्रकार अनेक प्रणियों की हिंसा करने वाला वह चाण्डाल उपवास के प्रभाव से जब देव उत्पन्न हुआ है तब अन्य भव्य जीव क्या उसके फल से समृद्धि को प्राप्त नहीं होगा, अवश्य होगा।

उपवास से लकड़हारा सम्राट चन्द्रगुप्त हुआ

इसी आर्यखण्ड में पुण्ड्रवर्धन देश के भीतर कोटिक नाम का नगर है। वहाँ पद्मधर नामका राजा राज्य करता था। रानी का नाम पद्मश्री था। इस राजा के यहाँ सोमशर्मा नामका एक पुरोहित था। उसकी पत्नि का नाम सोमश्री था। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। सोमशर्मा ने उसके जन्ममुर्हूर्त को शोधकर 'मेरा पुत्र जैनों

में समान्य होगा' यह प्रगट करने के लिए जिनमन्दिर के ऊपर ध्वजा खड़ी कर दी थी। उसने उसका नाम भद्रबाहु रखा। भद्रबाहु क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने लगा। सोमशर्मा ने सात वर्ष के पश्चात् उसका मौंजीबन्धन (उपनयन) संस्कार किया। तत्पश्चात् वह उसे वेद के पढ़ाने में संलग्न हो गया। एक समय भद्रबाहु बालकों के साथ मैंद खेलने के लिये नगर के बाहर गया। वहाँ उन सब ने वट्टक (वर्तक-एक प्रकार का खिलौना) के ऊपर वट्टक रखने का निश्चय किया। तदनुसार उनमें से किसी ने दो और किसी ने तीन वट्टक ऊपर-ऊपर रखे। परन्तु भद्रबाहु ने उन्हें एक के ऊपर दूसरे और दूसरे के ऊपर तीसरे, इस क्रम से तेरह वट्टक रख दिये। जम्बू स्वामी के मोक्ष जाने के पश्चात् विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली होंगे। यह आगम वचन है। जिस समय उक्त भद्रबाहु आदि बालक खेल रहे थे उस समय वहाँ अनेक सहस्र मुनियों के साथ विहार करते हुए गोवर्धन नाम के चौथे श्रुतकेवली आये। वे अष्टांग निमित्त के ज्ञाता थे। उन्होंने भद्रबाहु को देखकर यह निश्चित किया कि यह अनित्म श्रुतकेवली होगा। उनके इस संघ को देखकर वे सब बालक भाग गये, परन्तु भद्रबाहु नहीं भागा। उसने आकर गोवर्धन श्रुतकेवली को नमस्कार किया। तब उन्होंने उससे पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है और तुम किसके पुत्र हो? उसने उत्तर दिया कि मैं सोमशर्मा, ब्राह्मण का पुत्र हूँ व नाम मेरा भद्रबाहु है। तब मुनि ने फिर से पूछा कि तुम मेरे पास पढ़ोगे? उसने कहा कि 'हाँ, पढ़ूँगा'। इस पर वे स्वयं ही उसका हाथ पकड़कर उसके पिता के पास ले गये। उन्हें आते हुए देखकर सोमशर्मा अपने आसन से उठकर उनके आगे गया। उसने उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए आसन दिया और फिर इस प्रकार से आने का कारण पूछा। तब मुनि ने कहा कि यह तुम्हारा पुत्र मेरे पास पढ़ने के लिये कहता है। यदि तुम्हें यह स्वीकार है तो मैं उसे पढ़ाऊँगा। यह सुनकर सोमशर्मा बोला कि यह जैन सिद्धान्त का उपकार करेगा, यह इसके जन्ममुर्हूर्त सिद्ध है। वह भला असत्य कैसे हो सकता है? हम इसे आपके लिये देते हैं। आप जैसा उचित समझो, करें। यह कहकर उसने उन गोवर्धन मुनि के लिये भद्रबाहु को समर्पित कर दिया। उस समय भद्रबाहु की माता ने मुनि के पाँवों में गिरकर उसने भद्रबाहु को दीक्षा न देने की प्रार्थना की। तब गोवर्धन मुनिराज ने कहा कि हे बहिन! मैं पढ़ाकर इसे तेरे पास भेज दूँगा, तू इतना विश्वास रख। इस प्रकार गोवर्धन श्रुतकेवली भद्रबाहु को अपने साथ ले गये। फिर उन्होंने उसके

भोजन और निवास आदि की व्यवस्था श्रावकों से कराकर उसे पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार से वह समस्त शास्त्रों में पारंगत हो गया। तत्पश्चात् उसने समस्त दर्शनों की सारता व असारता को जानकर गुरु से दीक्षा लेने की प्रार्थना की। इस पर गोवर्धन मुनिन्द्र ने कहा कि तुम पहिले अपने नगर में जाकर अपनी विद्वता को दिखलाओ और तत्पश्चात् माता-पिता की स्वीकारता लेकर आओ। तब तुम्हें हम दीक्षा दे देंगे। यह कहकर उन्होंने भद्रबाहु को अपने घर भेज दिया। तदनुसार भद्रबाहु ने जाकर माता-पिता को प्रणाम कर उनके समक्ष अपने गुरु के सदगुणों की खूब प्रशंसा की। उसके पश्चात् दूसरे दिन उसने पदमधर राजा के भवन के द्वार पर पत्र को लगाकर ब्राह्मणादि सब वादियों को बाद में जीत लिया। इस प्रकार उसने जैन धर्म की भारी प्रभावना की। फिर वह माता-पिता की स्वीकारता लेकर उन गोवर्धन मुनि के पास गया और दीक्षित हो गया। अन्त में वे गोवर्धन श्रुतकेवली भद्रबाहु को श्रुतकेवलीरूप आचार्य बनाकर सन्यास के साथ स्वर्गवासी हुए। तब वे गुरुभक्त भद्रबाहु स्वामी साधुओं के साथ विहार करते हुए स्थित हुए।

यहाँ एक दूसरी कथा है जो इस प्रकार है किसी समय पाटलिपुत्र नगर में नन्द नाम का राजा राज्य करता था। उसके ये चार मन्त्री थे- बन्धु, सुबन्धु, कावि और शकटाल। एक समय कुछ म्लेच्छ देश के निवासी एकत्रित होकर आक्रमण करने के विचार से नन्द राजा के देश की सीमा पर आकर स्थित हो गये तब शकटाल ने राजा से निवेदन किया कि अपने देश पर आक्रमण करने के लिये म्लेच्छ देश के निवासी यवन उपस्थित हुए हैं, इसके लिये क्या उपाय किया जाय? यह सुनकर नन्द बोला कि इस विषय में तुम ही प्रवीण हो, तुम जो कहोगे वही किया जावेगा। तब शकटाल ने कहा कि शत्रु बहुत हैं, उन्हें धन देकर शान्त करना चाहिये। कारण कि अभी युद्ध के लिये उपयुक्त समय नहीं है। इस पर राजा ने कहा कि तुम्हारा कहना योग्य ही है उन्हें द्रव्य देकर शान्त करो। तब शकटाल ने उन्हें द्रव्य देकर वापिस कर दिया। दूसरे समय राजा अपने खजाने को देखने के लिये गया। वहाँ जब उसे सम्पत्ति नहीं दिखी तब उसने पूछा कि यहाँ की सम्पत्ति कहाँ चली गयी है? इस के उत्तर में कोषाध्यक्ष ने कहा कि शकटाल ने उसे शत्रुओं को दे डाली है। यह सुनकर नन्द ने क्रोधित होकर शकटाल को उसके कुटुम्ब के साथ तलघर के भीतर रख दिया। वह उसे वहाँ सकोरा पात्र के जाने योग्य छेद में से प्रतिदिन थोड़ा सा भात और जल दिलाने लगा। उस अल्प भोजन को

देखकर शकटाल बोला कि कुटुम्ब के बीच में जो कोई भी नन्द के वंश को समूल नष्ट कर सकता हो वह इस भोजन और जल को ग्रहण करे। इस पर सबने कहा कि इसके लिये तुम ही समर्थ हो इस प्रकार सबकी सम्मति से वह उस अन्न जल का उपयोग करने लगा। तब एक मात्र वही जीवित रहा, शेष सब मरण को प्राप्त हो गये।

इधर उन म्लेच्छों ने जब फिर से नन्द के राज्य में उपद्रव प्रारम्भ किया तब उसे शकटाल का स्मरण हुआ। उस समय उसने पूछा कि क्या कोई शकटाल के वंश में अभी विद्यमान है। इस पर किसी ने उत्तर दिया कि कोई अन्न और जल को ग्रहण तो करता है। तब शकटाल को वहाँ से निकाल कर उसे पहिने के लिये वस्त्र (पोशाक) दिये। फिर नन्द ने उससे कहा कि तुम इन शत्रुओं शान्त करो। इस पर शकटाल ने जिस किसी भी प्रकार से उन्हें शान्त कर दिया। तब राजा ने उससे पुनः मंत्री के पद को ग्रहण करने के लिये कहा। परन्तु शकटाल ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब वह उसकी इच्छानुसार अतिथिगृह का अध्यक्ष बना दिया गया। एक दिन शकटाल ने नगर के बाहर धूमते हुए चाणक्य ब्राह्मण को देखा। वह उस समय काँस को खोदकर फैक रहा था। शकटाल ने नमस्कार करते हुए उससे पूछा कि यह आप क्या कर रहे हैं? चाणक्य ने उत्तर दिया कि इस काँस के अग्रभाग से मेरा पाँव विध गया है, इसलिये मैं इसे जड़-मूल से उखाइकर सुखाऊँगा और तत्पश्चात् नदी में प्रवाहित कर दूँगा। इस उत्तर को सुनकर शकटाल को विश्वास हुआ कि यह व्यक्ति नन्द के वंश को नष्ट करने में समर्थ है। तब उसने उससे प्रार्थना की कि आप प्रतिदिन हमारे अतिथिगृह में उच्च आसन पर बैठकर भोजन किया करें। चाणक्य ने इसे स्वीकार कर लिया। तब से शकटाल उसे आदर के साथ भोजन कराने लगा। एक दिन अध्यक्ष ने उसके स्थान का परिवर्तन कर दिया। इसे देखकर चाणक्य ने पूछा कि यह स्थान परिवर्तन क्यों किया गया है? इसके उत्तर में अध्यक्ष ने कहा कि राजा का ऐसा नियम (आदेश) है कि आगे का आसन किसी दूसरे के लिये दिया जाय। तत्पश्चात् चाणक्य मध्यम आसन के ही ऊपर बैठकर भोजन करने लगा तत्पश्चात् उसे अन्तिम (निष्कृष्ट) आसन के ऊपर बैठाया गया। तब भी वह क्रोध न करके वहाँ बैठकर खाने लगा। इसके पश्चात् दूसरे दिन जब चाणक्य भोजन गृह के भीतर प्रवेश कर रहा था तब अध्यक्ष ने उसे रोकते हुए कहा कि राजा ने आपके भोजन का निषेध किया है, मैं क्या

कर सकता हूँ। इससे चाणक्य को अतिशय क्रोध उत्पन्न हुआ। तब उसने नगर से बाहर निकलते हुए कहा कि जो व्यक्ति नन्द के राज्य को चाहता हो वह मेरे पीछे लग जावे। यह सुनकर चन्द्रगुप्त नाम का क्षत्रिय उसके पीछे लग गया। वह अतिशय दरिद्र था। इसलिये उसने सोचा कि इसका साथ देने से मेरी कुछ भी हानि होने वाली नहीं है। तब चाणक्य ने म्लेच्छों से मिलकर प्रयत्नपूर्वक नन्द को नष्ट कर दिया और उसके स्थान पर चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त ने कुछ समय तक राज्य किया। तत्पश्चात् उसने अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य देकर चाणक्य के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली। आगे चाणक्य भट्टारक की कथा भिन्न है उसे आराधना कथाकोष से जानना चाहिए। फिर उस बिन्दुसार ने भी अपने पुत्र अशोक के लिए राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। अशोक के कुनाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह बालक पढ़ रहा था तब अशोक म्लेच्छों के ऊपर आक्रमण करने के लिए गया था। वहाँ से उसने नगर में स्थित प्रधान के लिए यह राजाज्ञा भेजी कि उपाध्याय के लिए शालि धान का भात और मसि (स्निग्ध पदार्थ) देकर कुमार को शिक्षण दिलाओ। इस लेख को बाँचनेवाले ने विपरीत (च मसिं दत्त्वा कुमारमन्धापयताम्= भात के साथ भस्म देकर कुमार को अन्धा करा दो) पढ़ा। तदनुसार उपाध्याय के लिए शालि धान का भात और राख खिलाकर कुमार के नेत्रों को निकलवा लिया गया। तत्पश्चात् जब शत्रुओं को जीतकर अशोक वापिस आया और उसने कुमार को अन्धा देखा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ। कुछ दिनों में उसने कुमार का विवाह चन्द्रानना नामकी कन्या के साथ करा दिया। उसके संप्रति चन्द्रगुप्त नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। उसको राज्य देकर अशोक ने दीक्षा ले ली। संप्रति चन्द्रगुप्त राज्य करने लगा।

एक समय वहाँ उद्यान में कोई अवधिज्ञानी मुनि आये। वनपाल से उनके आगमन को जानकर संप्रति चन्द्रगुप्त उनकी बन्दना के लिए गया। बन्दना करके उसने धर्म श्रवण किया। तत्पश्चात् उसने उनसे अपने पूर्व भवों को पूछा। मुनि बोले-इसी आर्यखण्ड के भीतर अवन्ति देश में वैदिक (विदिशा ?) नगर में राजा जयवर्मा राज्य करता था। रानी का नाम धारिणी था। इसी नगर के पास में एक पलास कूट नामका गाँव है। वहाँ एक देविल नामका वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम पृथिवी था। इनके एक नन्दिमित्र नाम का पुत्र था जो पुण्यहीन था। वह मात्रा में बहुत अधिक भोजन किया करता था। इसलिए माता-पिता ने उसे घर

से निकाल दिया था। तब वह वैदिशपुर गया। वहाँ जाकर वह नगर के बाहर एक वट-वृक्ष के नीचे बैठ गया। उसके पहुँचने के पूर्व में वहाँ काष्ठकूट नाम का लकड़िहारा लकड़ियों के बोझ को उतार कर विश्राम कर रहा था। उसको देखकर नन्दिमित्र बोला कि यदि तुम मुझे प्रतिदिन, भोजन दिया करोगे तो मैं इससे चौगुना लकड़ियों का बोझ लाया करूँगा। काष्ठकूट ने इस बात को स्वीकार कर लिया, तदनुसार वह उस लकड़ियों के बोझ को नन्दिमित्र के सिरपर रखकर घर को गया। उसने अपनी स्त्री जयघण्टा को सीख दी कि तुम इसको कभी भी पूरा पेट भोजन नहीं देना। तदनुसार उसकी स्त्री उसे थोड़ा भोजन देने लगी। इस प्रकार काष्ठकूट भारी लकड़ियों के गड्ढों को मंगाने और उन लकड़ियों को बेचकर धन संचय करने लगा। अब वह स्वयं लकड़ियाँ न लाकर उसी से मंगाया करता था। एक बार त्यौहार के समय जयघण्टा ने सोचा कि इसके प्रसाद से मुझे सम्पत्ति प्राप्त हुई है। परन्तु मैंने इसे कभी भी पूर्ण भोजन नहीं दिया। आज इसे इच्छानुसार भोजन कराना चाहिए। यह सोचकर उसने उस दिन नन्दिमित्र के लिए उसकी इच्छानुसार खीर, धी और शक्कर आदि देकर अन्त में पान भी दिया, तब उसने सन्तुष्ट होकर काष्ठकूट से बस्त्र आदि मांगे। उस समय काष्ठकूट ने अपनी स्त्री से पूछा कि आज इसे तूने खाने के लिए क्या दिया है? इसके उत्तर में उसने यथार्थ बात कह दी। इससे क्रोधित होकर काष्ठकूट ने यह कहते हुए कि तूने उसे ऐसा उत्तम भोजन क्यों दिया है, उसे ढण्डों से खूब मारा। यह देखकर नन्दिमित्र ने विचार किया कि काष्ठकूट ने इसे मेरे कारण मारा है, इसलिए अब इसके घर में रहना योग्य नहीं है। बस यही सोचकर वह उसके घर से निकल गया। फिर वह एक लकड़ियों के भारी गड्ढे को लाया और उसे बेचने के लिए बैठ गया। ग्राहकजन छोटे भी गड्ढों को खीरीदकर चले जाते थे, परन्तु इसके गड्ढे के विषय में कोई बात भी नहीं करता था। इस तरह दोपहर हो गई। तब वह भूख से व्याकुल हो उठा। इतने में वहाँ से विनयगुप्त नाम के एक मासोपवासी मुनिचर्चार्या के लिए निकले उन्हें देखकर उसने विचार किया, कि मैरे पास तो पहिनने के लिए फटा-पुराना बस्त्र भी हैं, परन्तु इसके पास तो वह भी नहीं है। देखूँ भला यह किधर जाता है। यह सोचता हुआ वह लकड़ियों के गड्ढे को वहाँ पर छोड़कर उनके पीछे लग गया। उन मुनिराज का पड़िगाहन राजा ने करके उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। नन्दिमित्र को देखकर उसने समझा कि यह कोई श्रावक है। इसलिए उसने दासी के द्वार उसके

पाँव धुलवाकर उसे भी दिव्य भोजन दिया। मुनि का निरन्तराय आहार हो जाने पर राजा के यहाँ पञ्चाशर्चर्य हुए। उनको देखकर नन्दिमित्र ने समझा कि यह कोई देव है। इसके साथ रहने से मैं भी इसके समान हो जाऊँगा यही सोचता हुआ वह उनके साथ गुफा में चला गया। वहाँ पहुँचकर उसने उनसे प्रार्थना की कि है स्वामिन्! मुझे भी आप अपने समान बना लिजिए। तब भव्य और अल्पायु जानकर विनयगुप्त मुनि ने उसे दीक्षा दे दी। उस दिन नन्दिमित्र उपवास को ग्रहण करके पंचनमस्कार मन्त्र का पाठ करता रहा। पारणा के दिन 'मैं उन्हें आहार दूँगा' इस प्रकार श्रावकों के बीच में विवाद आरम्भ हो गया। उसे देखकर नन्दिमित्र के परिणाम कापोतलेश्या जैसे हुए। कल इसके आश्रम से श्रावकों में कैसा क्षोभ होता है, यह देखने के लिए उसने दूसरा उपवास ग्रहण कर लिया। तीसरे दिन पारणा के निमित्त से राजसेठ आदि ने जाकर उसकी बन्दना करते हुए कहा कि 'मैं पडिगाहन करूँगा'। इस पर वह नन्दिमित्र बोला मैंने आज भी उपवास किया है। तब सेठ आदि ने कहा कि ऐसा न कीजिए। इसके उत्तर से उसने कहा कि मैं वैसा कर ही चुका हूँ। तत्पश्चात् सेठ ने राजदरबार में नवीन तपस्वी के गुणों का वर्णन किया। उसे सुनकर रानी ने विचार किया कि प्रातः काल में मैं उनको आहार दूँगी। इसी विचार से वह तीन दिन के उपवास के पश्चात् पारणा के समय समस्त अन्तःपुर के साथ वहाँ गई। उसने गुरु और शिष्य दोनों की बंदना की। उस समय नन्दिमित्र ने मन में विचार किया कि आज भी मैं उपवास करने में समर्थ हूँ, जब राजा आवेगा तब मैं पारणा करूँगा, यही सोचकर उसने कहा है स्वामिन्! आज भी मेरा उपवास है तब रानी ने उसके पाँवों में गिरकर कहा कि अब उपवास न कीजिए। इस पर उसने उत्तर दिया कि ग्रहण किये हुए उपवास को मैं कैसे छोड़ दूँ। गुरु ने भी कहा कि ग्रहण किये हुए उपवास को छोड़ना योग्य नहीं है। तब रानी वापिस चली गई। उधर वह नन्दिमित्र पंचनमस्कार मंत्र के पदों का चिन्तन करता हुआ स्थित रहा। तत्पश्चात् रात्रि के अन्तिम पहर में गुरु ने कहा है नन्दिमित्र! अब तेरी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही आयु शेष रही है, इसलिए तू संन्यास को ग्रहण कर ले। तब उसने प्रसाद मानकर गुरु के कहे अनुसार विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर लिया। इस प्रकार वह संन्यास के साथ शरीर को छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ। इधर राजा आदि नन्दिमित्र मुनि के स्वर्गवास को जानकर वहाँ सुवर्णदिकी वर्षा द्वारा क्षपक की प्रभावना कर रह थे और उधर इसी समय उस देव ने अपने परिवार के साथ

वहाँ पहुँचकर विमानों से आंकाश को व्याप कर दिया था। स्वयं समस्त देवियों के साथ विमान में स्थित था। तब वह नन्दिमित्र के गृहस्थ अवस्था के वेष में क्षपक के आगे नुत्य करता हुआ यह बोल रहा था देखो देखो! जो नन्दिमित्र केवल भोजन के निमित्त से दीक्षित हुआ था। वह अब रमणीय देव होकर अप्सराओं के मध्य में स्थित हैं। इसलिए मनुष्य को जिस किसी भी कारण से संन्यास लेना ही चाहिए।

इस देव को देखकर सब ही जनों को आश्चर्य हुआ। नन्दिमित्र के उक्त वृत्तान्त को जानकर कितने ही भव्य जीव दीक्षित हो गये और कितनों ने विशेष अणुब्रतों को ग्रहण कर लिया। जयवर्मा राजा ने अपने पुत्र श्री वर्मा के लिए राज्य देकर उक्त मुनिराज के ही निकट में बहुत जनों की साथ दीक्षा ले ली। ये सब ही यथायोग्य गति को प्राप्त हुए। नन्दिमित्र का जीव जो देव हुआ था वह स्वर्ग से च्युत हो कर तुम हुए हो। इस प्रकार अपने पूर्व भवों के वृत्तान्त को सुनकर सम्प्रति चन्द्रगुप्त को बहुत हर्ष हुआ वह मुनि को नमस्कार करके नगर में वापिस गया और सुख से रहने लगा।

उसने एक दिन रात्रि के अन्तिम पहर में इन सोलह स्वप्न को देखा—
(1) सूर्य का अस्त होना, (2) कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना, (3) आते हुए विमान का वापिस होना, (4) बारह सिरों से युक्त सर्प, (5) चन्द्रमण्डल का भेद, (6) काले हाथियों का युद्ध, (7) जुग्नू, (8) मध्य भाग में सूखा हुआ तालाब, (9) धुआं, (10) सिंहासन के ऊपर स्थित बन्दर, (11) सुवर्ण की थाली में खीर खाता हुआ कुत्ता, (12) हाथी के ऊपर स्थित बन्दर, (13) कचरे में कमल, (14) मर्यादा को लांघता हुआ समुद्र, (15) जवान बैलों से संयुक्त रथ और (16) जवान बैलों के ऊपर चढ़े हुए क्षत्रिय। तत्पश्चात् दूसरे दिन अनेक देशों में विहार करते हुए भद्रबाहु स्वामी सघ के साथ वहाँ आये और आहार के लिए उस नगर के भीतर प्रविष्ट हुए। वे सब ऋषियों को विविध श्रावकों के घर भेजकर स्वयं भी एक श्रावक के घर पर स्थित हुए। वहाँ पर अतिशय अव्यक्त बोलने वाला एक बालक बोला कि जाओ जाओ। इस पर आचार्य ने पूछा कि कितने वर्ष? बालक ने उत्तर दिया 'बारह वर्ष'। इसे अन्तराय मानकर आचार्य भद्रबाहु आहार ग्रहण न करके उद्यान में वापिस चले गये। उधर संप्रति चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के आगमन को जानकर परिवार के साथ उनकी बन्दना के लिए गया। बन्दना करने के पश्चात् उनसे पूर्वोक्त स्वप्नों के फल को पूछा। मुनि बोले— भविष्य में इस दुष्प्राप्ति काल

की जैसी कुछ प्रवृत्ति होने वाली है उन सबको तुमने इन स्वप्नों में देख लिया है। यथा (1) तुमने जो अस्त होते हुए सूर्य को देखा है वह यह सूचना है कि अब समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाला प्रमाणम् (द्वादशांग श्रुत) नष्ट होने वाला है। (2) कल्पवृक्ष की शाखा टूटने से यह ज्ञात होता है कि अब क्षत्रिय जन राज्य को छोड़कर तप को ग्रहण नहीं करेंगे। (3) आते हुए विमान का लौटना यह बतलाता है कि आज से यहां देवों एवं चारण वृथियों का आगमन नहीं होगा। (4) बारह सिरों से संयुक्त सर्प से यह विदित होता है कि यहां बारह वर्ष तक दुर्भिक्ष रहेगा। (5) चन्द्रविम्ब का भेद यह प्रगट करता है कि अब जैन दर्शन में संघ, गण एवं गच्छ आदि का भेद प्रवृत्त होगा। (6) काले हाथियों का युद्ध यह सूचित करता है कि अब से यहां अभीष्ट वर्षा का अभाव रहेगा। (7) जुगुनू के देखने से यह प्रकट होता है कि सकल श्रुत का अभाव हो जाने पर अब यहां उसका कुछ थोड़ा सा उपदेश मात्र अवस्थित रहेगा। (8) मध्य भाग में सूखा हुआ तालाब कहता है कि अब आर्यखण्ड के मध्य भाग में धर्म का नाश होगा। (9) धूम का दर्शन दुर्जन आदिकों की अधिकता को सूचित करता है। (10) सिंहासन के ऊपर स्थित बन्दर के देखने से सूचित होता है कि अब कुलहीन राजा का राज्य प्रवृत्त होगा। (11) सुवर्ण की थाली में खीर को खानेवाला कुत्ता यह बतलाता है कि अब राजसुभा में कुलिंगियों की पूजा हुआ करेगी। (12) हाथी के ऊपर स्थित बन्दर के देखने से सूचित होता है कि अब राजपुत्र कुलहीन मनुष्यों की सेवा किया करेंगे। (13) कचरा में स्थित कमल यह बतलाता है कि अब तप का अनुष्ठान राग द्रेष से कल्पित मनुष्य किया करेंगे। (14) मर्यादा को लांघने वाले समुद्र देखने से प्रगट होता है कि राजा लोग जो अब तक छठे भाग को कर (टेक्स) के रूप में ग्रहण किया करते थे वे अब उक्त नियम का उल्लंघन करके इच्छानुसार कर को ग्रहण किया करेंगे। (15) जवान बैलों से युक्त रथ यह बतलाता है कि अब बालक तप का अनुष्ठान करेंगे और वृद्धावस्था में उस तप को दूषित करेंगे। (16) जवान बैलों के ऊपर चढ़े हुए क्षत्रियों को देखकर यह निश्चय होता है कि अब क्षत्रिय जन कुर्धम से अनुराग करेंगे इस प्रकार उन स्वप्नों के फल को सुनकर संप्रति चन्द्रगुप्त ने अपने पुत्र सिंहासन के लिए राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

भद्रबाहु स्वामी ने उद्यान में पहुँचकर बाल व वृद्ध सब मुनियों को बुलाया और कहा कि जो मुनि यहां रहेगा उसका तप नष्ट होगा, यह निमित्तज्ञान से निश्चित

है। इसिलिए हम सब दक्षिण की ओर चलें। उस समय रामिल्लाचार्य, स्थूलभद्राचार्य और स्थूलाचार्य ये तीन आचार्य किसी समर्थ श्रावक का वचन पाकर अपने-अपने संघ के साथ वहां पर रहे। परन्तु श्री भद्रबाहु आचार्य बारह हजार मुनियों के साथ दक्षिण की ओर चले गये। वे वहां स्वाध्याय को सम्पन्न करने के लिये एक महावन के भीतर निशीविका (स्वाध्याय भूमि) पूर्वक किसी गुफा में प्रविष्ट हुए। वहां उन्हें 'यही' पर ठहरों यह आकाश वाणी सुनाई दी। इससे भद्रबाहु ने यह निश्चय किया कि अब मेरी आयु बहुत थोड़ी शेष रही है। तब उन्होंने म्यारह अंगों के धारक अपने विशाखाचार्य नामक शिष्य को संघ का नायक बनाकर उसके साथ संघ को आगे भेज दिया। उस संघ के साथ वे संप्रति चन्द्रगुप्त को भी भेजना चाहते थे। परन्तु उसने यह आगमवाक्य सुन रखा था कि बारह वर्ष तक गुरु के चरणों की सेवा करनी चाहिये। इसिलिये एक वही नहीं गया, शेष सब चले गये। उधर भद्रबाहु ने सन्यास ग्रहण कर लिया। तब वे आराधनाओं की आराधना करते हुए स्थित रहे। संप्रति चन्द्रगुप्त उस समग्र उपवास करता हुआ उनके पास में स्थित था। उस समय भद्रबाहु स्वामी ने संप्रति चन्द्रगुप्त से कहा कि हे मुने! हमारे दर्शन में जैनागम में कान्तार चर्या का मार्ग है— वन में आहार ग्रहण करने का विधान है। इसिलिए तुम कुछ वृक्षों के पास तक चर्या के लिए जाओ। यदि वह अयोग्य नहीं है तो गुरु के वचन का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए, यह सोचकर संप्रति चन्द्रगुप्त मुनि उनकी आज्ञानुसार चर्या के लिए चले गये। उस समय उनके चित की परीक्षा करने के लिए एक यक्षी ने स्वयं अदृश्य रहकर सुवर्णमय कड़े से विभूषित हाथ में कलछी ली और उसे दाल एवं धी आदि से संयुक्त शाली धान का भात दिखलाया। उसको देखकर मुनि ने विचार किया कि इस प्रकार का आहार लेना योग्य नहीं है। इस प्रकार वे बिना आहार लिए ही वापिस चले गये। इस प्रकार वापिस जाकर उन्होंने गुरु के पास में उपवास को ग्रहण करते हुए उनसे उपर्युक्त घटना कह दी। गुरु ने चन्द्रगुप्त के पुण्य के महात्म्य को जानकर उनसे कहा कि तुमने यह योग्य ही किया है दूसरे दिन चन्द्रगुप्त आहार के निमित्त दूसरी ओर गये। उधर उन्हें रसोई, बर्तन, सुवर्णमय थाली पानी का घड़ा आदि दिखा [परन्तु पडिगाहन करने वाला वहां कोई नहीं था।] इसिलिए वे दूसरे दिन भी बिना आहार ग्रहण के ही वापिस आ गये। आज की घटना भी उन्होंने गुरु से कह दी। इस पर गुरु ने कहा कि बहुत अच्छा किया तत्पश्चात् तीसरे दिन वे किसी दूसरी ओर गये। वहां उनका-

पड़िगाहन केवल एक ही स्त्री ने किया तब चन्द्रगुप्त मुनि ने उससे कहा कि तुम अकेली हो और इधर मैं भी अकेला हूं, ऐसी अवस्था में हम दोनों की निन्दा हो सकती है। इसलिये यहां रहना योग्य नहीं है। यह कहकर बिना आहार किये ही वे वापस चले गये। चौथे दिन वे और दूसरे स्थान में गये। वहां उन्होंने उस यक्षी के द्वारा निर्मित नगर को देखा। वहां एक घर पर वे आहार करके आ गये। आज निरन्तराय भोजन प्राप्त हो जाने का भी वृतान्त उन्होंने गुरु से कह दिया। गुरु ने भी कह दिया कि अच्छा किया। इस प्रकार वे इच्छानुसार कभी उपवास रखते और कभी वहां आहार ग्रहण करके आ जाते। इस प्रकार संप्रति चन्द्रगुप्त मुनि गुरुदेव की सेवा करते हुए वहां स्थित रहे। कुछ ही दिनों में भद्रबाहु स्वामी स्वर्गवासी हो गये। चन्द्रगुप्त मुनि ने उनके निर्जीव शरीर को किसी ऊँचे स्थान में एक शिला के ऊपर रख दिया। फिर वे गुफा की भित्ति के ऊपर गुरु के चरणों को लिखकर उनकी आराधना करते हुए वहां स्थित रहे। उधर विशाखाचार्य आदि चौलदेश में जाकर वहां सुख पूर्वक स्थित हुए।

इधर बारह वर्ष के बाद जब वह दुर्भिक्ष नष्ट हो गया तब विशाखाचार्य आदि ने दक्षिण से उत्तर की ओर फिर से विहार करने का विचार किया। तदनुसार उत्तर की ओर आते हुए वे मार्ग में भद्रबाहु की नसिया की बन्दना करने के लिए उस गुफा में पहुंचे। तब तक वहां पर जो संप्रति चन्द्रगुप्त मुनि गुरु के चरणों की आराधना करते हुए स्थित थे तथा दूसरी बार केशलुंच न करने से जिनका जटाभार बढ़ रहा था उन्होंने संघ के सन्मुख आकर उसकी बंदना की। परन्तु यह यहाँ कन्दमूलादि का आहार करते हुए स्थित रहा है, ऐसा सोचकर संघ के किसी भी मुनि ने उनकी बंदना के उत्तर में प्रतिबंदना नहीं की। उस संघ ने वहां भद्रबाहु के शरीर का अग्रि संस्कार करते हुए उस दिन उपवास रखा। दूसरे दिन जब विशाखाचार्य पारणा के निमित्त से किसी गांव की ओर जाने लगे तब संप्रति चन्द्र गुप्त ने उन्हें रोकते हुए कहा है स्वामिन्! पारणा करने के पश्चात् विहार कीजिए। इस पर विशाखाचार्य ने कहा कि जब यहां पास में कोई गांव आदि नहीं है तब पारणा कहां पर हो सकती है? इसके उत्तर में चन्द्रगुप्त ने कहा कि उसकी चिन्ता नहीं कीजिए। तत्पश्चात् मध्याह्न के समय में चन्द्रगुप्त के द्वारा दिखलाये गये मार्ग से वह संघ आश्चर्य पूर्वक चर्या के लिए निकला। आगे जाते हुए उसे एक नगर दिखाई दिया। तब वह उसके भीतर प्रविष्ट हुआ। वहां बहुत से श्रावकों ने उन मुनियों का बड़े उत्साह के साथ

पड़िगाहन किया। इस प्रकार वे सब निरन्तराय आहार करके वहां से उस गुफा में वापिस आगये। उस संघ का एक ब्रह्मचारी वहां कमण्डलु भूल आया था। वह उसे लेने के लिए फिर से वहां गया। परन्तु उसे वह नगर नहीं दिखा। इससे उसे बहुत आश्चर्य हुआ फिर उसने उसे खोजते हुए एक झाड़ के नीचे देखा। तब वह उसे लेकर वापिस गुफा में आया उसने उस नगर के उपलब्ध न होने की बात गुरु से कही। इससे विशाखाचार्य ने समझ लिया कि वह नगर संप्रति चन्द्रगुप्त के पुण्य के प्रभाव से उसी समय हो जाया करता है। इस घटना को जानकर विशाखाचार्य ने संप्रति चन्द्रगुप्त की बहुत प्रशंसा की। पश्चात् उन्होंने संप्रति चन्द्रगुप्त मुनि का केशलुंच करके उन्हें प्रायश्चित् दिया तथा अब्रती के द्वारा दिये गये आहार को ग्रहण करने के कारण संघ के साथ स्वयं भी प्रायश्चित् लिया। संप्रति चन्द्रगुप्त घोर तपश्चरण करके संन्यास के साथ मरण को प्राप्त हुआ और स्वर्ग गया। इस प्रकार का कापोतलेश्यारूप परिणाम से उपवास को करके जब वह नन्दिमित्र स्वर्गादि के सुख के भोक्ता हुआ है तब जो भव्य जीव विशुद्ध परिणामों से उस उपवास को करेगा वह क्या वैसे सुख का भोग नहीं होगा? अवश्य होगा।

(पु.कथाकोश.पृ. 230)

उपवास से दुर्गिधा का अभ्युदय

इसी आर्यखण्ड के भीतर अंगदेश में चम्पापुर है। उसमें मधवा राजा राज्य करता था। रानी का नाम श्रीमती था। इन दोनों के श्रीपाल, गुणपाल, अवनिपाल, वसुपाल, श्रीधर, गुणधर, यशोधर और रणसिंह ये आठ पुत्र थे। उनसे छोटी एक रोहिणी नाम की पुत्री थी जो अतिशय रूपवती थी। वह अष्टान्हिक पर्व में अष्टमी के दिन उपवास को करके जिनालय में गई। उसने वहाँ जिन भगवान् का अभिषेक और पूजन आदि की। पश्चात् जिनालय से वापिस आकर उसने सभा भवन में बैठे हुए अपने पिता के लिए गन्धोदक आदि दिया। तब उसके पिता ने पूछा कि हे पुत्री! तेरा मुख मुरझाया हुआ क्यों है तथा तूने कुछ श्रृंगार भी क्यों नहीं किया है? उसने उत्तर दिया कि मेरा कल का उपवास था, इसलिए श्रृंगार नहीं किया है। इस पर पिता ने कहा कि तो फिर जाकर पारणा कर। इस प्रकार उसे भवन के भीतर भेजते हुए राजा ने लज्जा के साथ जाती हुई उसके यौवन की शोभा को देखकर मन्त्रियों से पूछा कि इसके लिए कौनसा वर योग्य होगा? तब उनमें से मतिसागर नाम का मन्त्री बोला कि सिन्धु देश का राजा भूपाल इसके लिए योग्य होगा, क्योंकि

उसकी सुन्दरता असाधारण हैं। दूसरा श्रुतसागर मन्त्री बोला कि पल्लव देश का राजा अर्ककीर्ति सब ही गुणों से सम्पन्न है, अतएव वह इस पुत्री के लिए योग्य वर है। विमलबुद्धि ने कहा कि सुराष्ट्र देश का स्वामी जिनशत्रु अनुपम गुणों का धारक है, इसलिए वही इसके लिए योग्य वर दिखता है। अन्न में सुमति मन्त्री बोला कि पुत्री के लिए योग्य वर देखने के लिए स्वयंवर की विधि ठीक प्रतीत होती है, अतएव उसे ही करना चाहिए सुमति की इस योग्य सम्मति को उन सभी ने स्वीकार कर लिया। तब इस स्वयंवर विधि को सम्पन्न करने के लिए स्वयंवर शाला का निर्माण कराकर मधवा राजा ने समस्त राजाओं के पास आमन्त्रण भेज दिया। तदनुसार वे राजा आकर स्वयंवर शाला में यथायाग्य आसनों पर बैठ गये। उस समय अनुपम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रोहिणी धाय के साथ रथ पर चढ़कर आयी और स्वयंवर शाला के भातर प्रविष्ट हुई। वहाँ पर धाय ने राजाओं को परिचय कराते हुए रोहिणी से कहा कि है पुत्री! यह सुकोशल देश के स्वामी महामण्डलेश्वर श्री वर्मा का पुत्र महेन्द्र है, यह वंग देश का राजा अंगद है, यह डाहल देश का स्वामी बज्रबाहु है इत्यादि अनेक राजाओं का परिचय कराती हुई वह धाय एक स्थान पर दिव्य आसन के ऊपर बैठे हुए अशोक कुमार को देखकर बोली कि है पुत्री! यह हस्तिनापुर के कुरुवंशी राजा वीतुशोक और विमला का पुत्र अशोक है जो समस्त गुणों का स्वामी है। तब रोहिणी ने उसके गले में माला डाल दी। उस समय महेन्द्र के मन्त्री दुर्मति ने उनसे कहा कि है नाथ! तुम महामण्डलेश्वर के पुत्र होकर अतिशय सुन्दर और तारुण्य हो। फिर भी इस कन्या ने तुम्हारी उपेक्षा करके अशोक के गले में माला डाली है। क्या कन्या इस बात को नहीं जानती है? परन्तु मधवा ने उसे अशोक के विषय में पहले ही कह रखा था। इस प्रकार उसकी सम्मति से ही कन्या ने अशोक के गले में माला डाली है। इसलिए तुम उन दोनों (मधवा और अशोक) को युद्ध में मार कर कन्या को ग्रहण कर लो। तब महामति नामक मन्त्री ने उससे कहा कि क्या तुम्हें ऐसी सम्मति देना योग्य है? तुम केवल दुष्ट बुद्धि से ही ऐसी सम्मति दे रहे हो। पहले भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति ने सुलोचना के कारण जयकुमार के साथ युद्ध किया था, परन्तु क्या वह सुलोचना उसे स्वयंवर में प्राप्त हो सकी थी? नहीं। इसलिए यह विचार योग्य नहीं है। फिर भी महेन्द्र ने युद्ध के दुराग्रह को नहीं छोड़ा। उस समय सब राजा उसी के पक्ष में सम्मिलित हो गये। तब फिर से भी महामति मन्त्री ने कहा

कि स्वयंवर की प्रथा ही ऐसी है। अतः उसके लिए युद्ध करना अनुचित है। फिर भी यदि युद्ध करना है तो मधवा के पास कन्या को माँगने के लिए मन्त्री को भेजना योग्य होगा। उसके कहने से यदि वह कन्या को दे देता है तो ठीक है। अन्यथा तुम जो उचित समझो करना। तदनुसार वहाँ एक अतिशय निपुण दूत को भेजा गया। दूत ने उन दोनों के पास जाकर कहा कि तुम दोनों के ऊपर महेन्द्र आदि रुष्ट हुए हैं। इसलिए तुम कन्या को महेन्द्र के लिए देकर सुख से जीवनयापन करो। उसके कारण तुम मृत्यु के मुख में प्रविष्ट मत होओ। दूत के इन वचनों को सुनकर अशोक बोला कि है दूत! स्वयंवर में कन्या जिसके गले में माला डालती है वही उसका स्वामी होता है, ऐसा स्वयंवर का नियम है। इसलिए मेरे बाणों के मुखरूप अग्नि में तेरे स्वामी ही यदि पतंगा बनकर गिरना चाहते हैं तो गिरें, इसमें हमारी क्या हानि है? उनके पराक्रम को मैं युद्ध में ही देखूँगा, जाओ तुम। यह उत्तर देकर अशोक ने उस दूत को वापिस भेज दिया। उसने जाकर महेन्द्र आदि से अशोक के उत्तर को ज्यों का त्यों कह दिया। तब वे युद्ध के भरोसे को दिलाते हुए सुसज्जित होकर युद्ध भूमि में जा पहुंचे। तत्पश्चात् अशोक और मधवा आदि भी व्यूह और प्रतिव्यूह के क्रम से रणभूमि में स्थित हो गये। उधर रोहिणी, मेरे निमित्त से युद्ध में यदि पिता और पति मैं से किसी का मरण होता है तो मैं झाहार और शरीर से मोह छोड़ती हूँ, इस प्रकार के संन्यास के साथ मन्दिर में जाकर स्थित हो गई। उन दोनों सेनाओं में घोर युद्ध प्रारम्भ होने पर बहुत- से सैनिक मारे गये। इस प्रकार बहुत समय बीतने पर महेन्द्र की सेना भागने लगी। तब अपनी सेना को भागते हुए देखकर महेन्द्र स्वयं युद्ध में प्रवृत्त हुआ। उसके शस्त्रों के प्रहार से अपनी सेना को भागती हुई देखकर अशोक ने स्वयं महेन्द्र का सामना किया। तब उन दोनों में तीनों लोकों को आशर्चान्वित करने वाला युद्ध हुआ। इस प्रकार बहुत समय बीतने पर महेन्द्र भाग गया। तब चोल, पाण्ड्य और चेरम आदि राजाओं ने उस अशोक को धेर लिया। यह देखकर रोहिणी के भाई श्रीपाल आदि ने उक्त चोल आदि राजाओं को पीछे हटा दिया। तब उन श्रीपाल आदि का सामना महेन्द्र ने फिर से किया और उनके साथ घोर युद्ध करके उसने उन्हें पीछे हटा दिया। यह देख अशोक ने फिर से महेन्द्र का सामना करके महायुद्ध में उसके छत्र और ध्वजा को नष्ट कर दिया व सारथी को मार डाला। तत्पश्चात् हे महेन्द्र! अब तू अपने गिरते हुए सिर की रक्षा कर, यह कहते हुए अशोक ने उसके कण्ठ को

लक्ष्य करके बाण छोड़ दिया। वह जाकर महेन्द्र के कण्ठ में लगा। इससे वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। उस समय अशोक ने उसके सिर को ग्रहण करना चाहा। परन्तु मधवा ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। जब महेन्द्र की मूर्छा दूर हुई तब महामति मन्त्री ने समझाया कि अब तुम शत्रु के लिए अपना सिर मत दो। इस प्रकार समझाकर उसने महेन्द्र को युद्ध से विमुख किया। तब मधवा ने जयभेरी की ध्वनि के साथ विजयपताका फहरा दी। उसके शत्रुओं में से कितनों ने दीक्षा धारण कर ली और कितने ही अपने देश को वापिस चले गये। इधर अशोक और रोहिणी का महाविभूति के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

अशोक कुछ दिन बहाँ पर रहा। तत्पश्चात् वह रोहिणी के साथ अपने नगर को वापिस गया। उस समय पिता उसको लेने के लिए सम्मुख आया। तब अशोक पिता को प्रणाम करके विभूति के साथ पुर के भीतर प्रविष्ट हुआ। उस समय माता एवं अन्य पवित्र (सौभाग्यशालिनी) स्त्रियों के द्वारा फेंके गये शेषाक्षतों को अशोक ने सहर्ष स्वीकार किया। फिर उसने साथ में आये हुए रोहिणी के भाई श्रीपाल के लिए अपनी बहिन प्रियंगुसुन्दरी को देकर उसे अपने नगर को वापिस भेज दिया। इस प्रकार वह अशोक युवराज सुखपूर्वक स्थित हुआ। एक समय अतिशय धबल मेघ को नष्ट होता हुआ देखकर वीतशोक राजा के लिए वैराग्य उत्पन्न हुआ। तब उसने अशोक के लिए राज्य देते हुए एक हजार राजपुत्रों के साथ यमधर मुनि के पास में जाकर दीक्षा लेली। अन्त में वह तपश्चरण करके मुक्ति को प्राप्त हुआ। इधर राज्य करते हुए अशोक और रोहिणी के वीतशोक, जितशोक, नष्टशोक, विगतशोक, धनपाल, स्थिरपाल और गुणपाल थे ये सात पुत्र तथा बसुंधरी, अशोकवती, लक्ष्मीमती और सुप्रभा ये चार पुत्रियाँ हुईं। अन्त में, उनके एक लोकपाल नाम का अन्य पुत्र हुआ। इस प्रकार रोहिणी बारह सन्तानों की माता हुईं।

एक समय अशोक और रोहिणी दोनों अपने भवन के ऊपर एक आसन पर बैठे हुए दिशाओं का अवलोकन कर रहे थे। उस समय बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष अपने उदर को ताड़ित करके रोते हुए राजमार्ग से जा रहे थे। उन सबको वैसी अवस्था में देखकर रोहिणी ने वासवदत्ता नामकी अपनी चतुर धाय से पूछा कि यह कौन सा अपूर्व नाटक है यह सुनकर धाय को क्रोध आगया। वह बोली कि हे पुत्री! तू रूप आदि के अभिमान से इस प्रकार बोल रही है। इस पर रोहिणी बोली कि हे माता! क्रोध क्यों करती हो? क्या तुमने मुझे इसका उपदेश दिया

है और मैं भूल गई हूँ, इसलिए क्रोध करती हो? तब धाय ने पूछा कि हे पुत्री। क्या तू इसे सर्वथा ही नहीं जानती है? रोहिणी ने उत्तर दिया कि नहीं। तब उसकी सुरक्षा को देखकर पण्डित ने कहा कि हे पुत्री! इनका कोई मर गया है, इसलिए ये शोक कर रहे हैं। उसी समय लोकपाल कुमार असावधानी के कारण छत पर से नीचे गिर गया। तब सब लोग पश्चात्ताप करने लगे। परन्तु माता और पिता दोनों ही चुपचाप बैठे रहे। उस समय नगरदेवता ने उस लोकपाल को बीच में ही कोमल शश्या के ऊपर ले लिया था। यह देखकर लोगों को तथा माता-पिता को भी बहुत आनन्द हुआ। दूसरे दिन उस नगर के उद्यान में रूप्यकुम्भ और स्वर्णकुम्भ नाम के दो मुनि आये। वनपाल से इस शुभ समाचार को जानकर राजाने आनन्द भेरी दिला दी। वह स्वयं परिवार के साथ उनकी बन्दना के लिए निकल पड़ा। उद्यान में पहुँचकर उसने उनकी पूजा और बन्दना की। तत्पश्चात् धर्मश्रवण करके उसने उनसे निम्न प्रश्न किये पिछले दिन इस नगर के जनों को शोक क्यों हुआ, रोहिणी रानी शोक को क्यों नहीं जानती है, और मैं किस पुण्य से उत्पन्न हुआ हूँ। साथ ही उसने अपने पुत्रों के अतीत भवों के कहने की भी उनसे प्रार्थना की। तब रूप्यकुम्भ मुनि ने प्रथमतः लोगों के शोक का कारण इस प्रकार बतलाया- इस नगर की पूर्व दिशा में बारह योजन जाकर नीलाचल नामका पर्वत है। पूर्व में उस पर्वत की एक शिला के ऊपर यमधर मुनि आतापनयोग से स्थित थे। उनके प्रभाव से वहाँ रहने वाले मृगमारि नामक भील को शिकार नहीं मिल रही थी। इससे मृगमारि को उनके ऊपर क्रोध आ रहा था। एक दिन यमधर मुनि एक मास के उपवास के बाद पारणा के लिए उक्त पर्वत के समीप में स्थित अभयपुरी में गये थे। उस समय अवसर पाकर उस भील ने उस आतापनशिला को खैर आदि के अंगारों से संतप्त कर दी। फिर उसने मुनिराज को वापिस आते हुए देखकर शिला के ऊपर से उन अंगारों को हटा दिया। मुनिराज ने उस शिलां के ऊपर आतापन योग की प्रतिज्ञा ले रखी थी। इसलिए वे उसे संतप्त देखकर संन्यास को ग्रहण करते हुए उसके ऊपर चढ़ गये। इस भयानक उपसर्ग को जीतने से उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया और वे तत्काल मुक्त हो गये। इधर उस भील को सातवें दिन उदुम्बर कोढ़ उत्पन्न हो गया। इससे उसके समस्त शरीर में से दुर्गन्ध आने लगी। तब वह मरण को प्राप्त होकर सातवें नरक में गया। फिर वह वहाँ से निकलकर अनेक त्रस-स्थावर योनियों में परिभ्रमण करता हुआ इसी पुर में ग्वाला अम्बर और गान्धारी के दण्डक

पुत्र हुआ था। वह घुमता हुआ नीलाचल पर्वत के ऊपर गया और वहां वनामि के मध्य में पड़कर मर गया। तब उसकी खबर पाकर कुदुम्बी जन एकत्रित होकर रोते हुए वहां गये। यह उनके शोक का कारण है।

अब मैं रोहिणी के शंक न हान कारण को बतलाता हूं। इसी हस्तिनापुर में पहिले एक वसुपाल नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम वसुमती था। वहीं पर एक धनमित्र नामका सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनमित्रा था। इनके अतिशय दुर्गन्धित शरीरवाली एक दुर्गन्धा नाम की पुत्री थी। उसके साथ कोई भी विवाह करने के लिए उद्धत नहीं होता था। वहीं पर एक सुमित्र नामका दूसरा सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम वसुकान्ता था। इनके एक श्रीषेण नामका पुत्र था जो सात व्यसनों में रत था। एक समय वह चोरी करते हुए क्रोतवालों के द्वारा पकड़ लिया गया था। वे उसे राजाज्ञा के अनुसार शूलीपर चढ़ाने के लिए ले जा रहे थे। मार्ग में धनमित्र ने देखकर उससे कहा कि यदि तुम मेरी पुत्री के साथ विवाह कर लेते हो तो मैं तुम्हें छुड़ा देता हूं। इस पर उसने उत्तर दिया कि मैं मर जाऊँगा, परन्तु आपकी पुत्री के साथ विवाह नहीं करूँगा। किन्तु तत्पश्चात् बन्धुजनों के आग्रह से श्रीषेण ने धनमित्र की पुत्री के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। तब सेठ ने राजा से प्रार्थना करके उसे मुक्त करा दिया। इसके पश्चात् उसने दुर्गन्धा के साथ विवाह तो कर लिया, परन्तु वह उसके शरीर की दुर्गन्ध को न सह सकने के कारण रात में वहां से भाग गया। तब माता पिता ने दुर्गन्धा से कहा कि हे पुत्री। तू धर्म का आचरण कर। उसके शरीर से इतनी अधिक दुर्गन्ध आती थी कि जिससे अन्य की तो बात ही क्या, किन्तु भिखारी तक उसके हाथ से सोना आदि भी लेना पसन्द नहीं करते थे। एक दिन उसके घर पर चर्यामार्ग से संयमश्री नामकी आर्थिका आई। दुर्गन्धा ने उनका पडिगाहन किया। उस समय आर्थिका ने विचार किया कि यह रुण नहीं है, किन्तु स्वभावतः दुर्गन्धमय शरीर से संयुक्त है। इसके शरीर रसम्बन्धी पुद्गल का कुछ विकार ही इस प्रकार का है। इस कारण इसके हाथ से आहार ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार का विचार करके वे आर्थिका निर्विचिकिस्सा गुण को प्रगट करती हुई वहां स्थित हो गई। तब दुर्गन्धा ने उन्हें निरन्तराय आहार दिया। तत्पश्चात् उसने उनसे प्रार्थना की कि हे आर्थिक। मुझे न छोड़िये, आपके प्रसाद से मैं सुखी होऊँगी। इसपर वे उसके ऊपर दयालु होकर वहीं पर ठहर गई।

एक समय उस नगर के उद्यान में पिहितास्त्रव मुनि आये। वनपाल से उनके आगमन के समाचार को जान करके राजा आदि उनकी बन्दना के लिए निकले। उनकी बन्दना के पश्चात् वे धर्मश्रवण करके नगर में व्रापिस आये। संयमश्री आर्थिका के साथ जाकर दुर्गन्धाने भी उनकी बन्दना की। तत्पश्चात् उसने उनसे पूछा कि मैं किस पाप के फल से इस प्रकार की हुई हूं। मुनि बोले— सुराष्ट्र देश के भीतर गिरिनगर है। वहां भूपाल नामका राजा राज्य करता था। रानी का नाम सुरुपती था इसी नगर में एक गंगदत्त नामका सेठ रहता था उसकी पत्नी का नाम सिन्धुमती था। एक बार वसन्त क्रृतु के समय में उद्यान को जाते हुए राजा ने गंगदत्त को बुलाया। वह पत्नी के साथ घर में से निकल ही रहा था कि इतने में उसे चर्या के लिए सम्मुख आते हुए गुण सागर मुनि दिखाई दिये। तब उसने उनका पडिगाहन किया और राजा के भय से अपनी पत्नी से कहा कि, हे प्रिये! तुम मुनि को आहार करा दो। इस पर वह पति के भय से कुछ भी नहीं बोली और मुनि को परोसने के लिए ठहर गई। सेठ राजा के साथ उद्यान को चला गया। इधर सिन्धुमती ने ‘यह मुनि मेरी जलक्रीड़ा में बाधक हुआ, मैं इसे देखती हूं इस प्रकार सोचकर घोड़े के लिए मंगायी गयी कडवी तूंबड़ी मुनि के लिए दे दी। मुनि उक्त तूंबड़ी का भोजन करके वसतिका को चले गये। इससे उनके शरीर में अतिशय दाह उत्पन्न हुई। तब उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया। अन्त में सन्यासपूर्वक शरीर को छोड़कर वे अच्युत स्वर्ग को प्राप्त हुए। उधर उद्यान से वापिस आकर नगर के भीतर प्रवेश करते हुए राजा ने उनके विमान को निकलते हुए देखा। तब उसने किसी से पूछा कि ये कौन से मुनि मरण को प्राप्त हुए हैं? यह सुनकर किसी ने कहा कि एक मास का उपवास पूर्ण करके पारणा के लिए गये थे। उन्हें सिन्धुमती ने घोड़े के लिए तैयार की गई कडवी तूंबड़ी दे दी। इससे उनका स्वर्गवास हो गया है। इस घटना से सेठ ने दीक्षा धारण कर ली। उधर राजा ने सिन्धुमती के कान और नाक कटवा लिये तथा उसे गधे के ऊपर चढ़ाकर नगर से बाहर निकलवा दिया। तत्पश्चात् सिन्धुमती को कोढ़ निकल आया। इससे उसका शरीर दुर्गन्धमय हो गया। वह मरकर छठे नरक में पहुंची। वहां से निकलकर वह वन में कुत्ती हुई और वनामि से जलकर मर गई। फिर वह तृतीय नरक को प्राप्त हुई। वहां से निकलकर वह कोशाम्बी नगरी में शूकरी हुई। तत्पश्चात् अजीर्ण से मरकर वह कौशल देश के अन्तर्गत नन्दिग्राम में चुहिया हुई। इस पर्याय में वह प्यास से पीड़ित होकर मरी

लू का (गोंव) हुई वहां उसने जल पीने के लिए आयी हुई भैंस के शरीर और कर उसका रक्तपान किया। उस रक्त के बोझ से धूप में गिर जाने पर उसे ने खा लिया। तब वह म़रकर अन्जयिनी पुरी में चाण्डालिनी हुई। फिर वह जीर्ण-ज्वर से मरकर अहिछत्र नगर में धोबी के घर पर गधी हुई। तत्पश्चात् मरण को प्राप्त होकर वह यहां हस्तिनापुर में एक ब्राह्मण के घर पर कपिला गाय उत्पन्न कीचड़ में फंसकर मरी और फिर तू हुई है। इस प्रकार अपने पूर्व भवों हुई। वह परम्परा को सुनकर दुर्गन्धा ने उनसे फिर पूछा कि हे नाथ! मेरे इस शरीर की क्रिया के नष्ट होने का क्या उपाय है? इस पर मुनि ने कहा कि हे पुत्री! सत्ताईसवें दुर्गन्धा रोहिणी नक्षत्र आता है। उस दिन तू उपवास कर इस उपवास का क्रम इस है— कृतिका नक्षत्र के समय में स्नान करके जिन भगवान् की पूजा करनी प्रकार है। तत्पश्चात् एकाशन की प्रतिज्ञा लेकर भोजन करे और स्वयं या अन्य किसी चाहिये। उस दिन जिन भगवान् का अभिषेक व पूजनादि करके धर्मध्यान करना चाहिये। उस दिन जिन भगवान् का अभिषेक व पूजनादि करके धर्मध्यान करना चाहिये। फिर पारणा के दिन जिनपूजनादि के साथ पात्रदान में कालयापन करना चाहिये। वह रोहिणीब्रत की विधि उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य करके तत्पश्चात् पारणा करे। वह रोहिणीब्रत की विधि उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य करके तत्पश्चात् पारणा करे। उनमें उक्त ब्रत का सात वर्ष तक पालन करने पर के भेद तत्पश्चात्, पांच वर्ष तक पालन करने पर मध्यम और तीन वृष्ट तक पालने पर वह उत्कृष्ट होता है।

जघन्य

अब उसके उद्यापन की विधि बतलाते हैं— उसी मार्गशीर्ष माह में रोहिणी नक्षत्र के होने पर जिनप्रतिमा का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराना चाहिये। तत्पश्चात् पांच-पांच संख्या में धी आदि के कलशों से जिन भगवान् का अभिषेक तत्पश्चात् पांच अक्षतपुंजों, पांच प्रकार के पुष्टों, पांच पात्रों में स्थित नैवैद्यों, पांच करके तंवाण धूपों और पांच प्रकार के फलों से जिनपूजन करना चाहिये। साथ दीपों, तीर्पों, उपकरणों सहित प्रतिमाओं को वसतिका के लिए देना चाहिए। इसके अतिरिक्त ही पांच आचार्यों के लिए पांच पुस्तकों को, यथाशक्ति साधुओं को पूजा (अर्ध), पांच आर्थिकाओं के लिए वस्त्र और श्रावक श्राविकाओं के लिए परिधान (धोती आदि आर्थिक वस्त्रों के वस्त्र) को भी देना चाहिये। अन्त में जैसी जिसकी शक्ति हो तदनुसार पहिरने की घोषणा करके आहारदानादिक के द्वारा धर्म प्रभावना भी करना चाहिये। अभ्य उस द्वितीय जिनालय में पांच वर्ण के चावलों से अद्वाई दीपों की रचना करके पूजन

करना चाहिये। जो ब्रती उद्यापन करने में असमर्थ हो उसे उक्त ब्रत का पालन नियमित समय से दुगुणे काल तप करना चाहिये। इस ब्रत के फल से भव्य जीव परलोक में तो सुख प्राप्त करते ही है, साथ में वे उसके फल से इस लोक में भी सुख पाते हैं। इस प्रकार रोहिणीब्रत के विधान को सुनकर पूतिगन्धा ने उसे ग्रहण कर लिया।

पश्चात् पूतिगन्धा ने उनसे पुनः प्रश्न किया कि इस संसार में मेरे समान दूसरा भी कोई ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीर से सहित हुआ है अथवा नहीं? मुनि बोले-कलिंग देश के भीतर एक महावन में ताप्रवर्ण और श्वेतवर्ण नामके दो हाथी थे। वे हथिनी के निमित्त से परस्पर लड़े और मरकर चूहा एवं बिलाव हुए इनमें चूहे को बिलाव ने मार डाला। वह मरकर नेवला हुआ। उधर वह बिलाव मरकर सर्प हुआ। इस सर्प को उस नेवले ने मार डाला। वह मरकर कुकुट (मुर्गा) हुआ और वह नेवला समयानुसार मरण को प्राप्त होकर मत्स्य हुआ तत्पश्चात् वे दोनों मरकर कबूतर हुए। यहीं हस्तिनापुर में किसी समय सोमप्रभ राजा राज्य करता था। रानी का नाम कनकप्रभा था। इस राजा के यहां रविस्वामी नामका पुरोहित था। इसकी पत्नी का नाम सोमश्री था। वे दोनों कबूतर बिजली के निमित्त से मरकर इस सोमश्री के सोमशर्मा और सोमदत्त नाम के दो युगल पुत्र हुए थे। इन दोनों की स्त्रियों के नाम क्रमशः सुकान्ता और लक्ष्मीमती था। जब इनका पिता मरा तब राजा ने छोटे पुत्र (सोमदत्त) को पुरोहित बनाया। तब वह राजमान्य होकर स्थित हुआ। पश्चात् सोमशर्मा मेरी पत्नी के साथ संभोग करता है, यह जानकर सोमदत्त ने दीक्षा ले ली। वह समस्त आगम का ज्ञाता होकर एक विहारी हो गया। इस प्रकार से विहार करता हुआ वह एक समय हस्तिनापुर के बाह्य प्रदेश में आया। इसी समय सोमप्रभ राजा ने मगध देश के राजा के पास उसकी कन्या मदनावली और ब्याल सुन्दर हाथी को मांगने के लिए अपने विशिष्ट (दूत) को भेजा। साथ में 'वह देगा कि नहीं' इस सन्देश के वश होकर राजा ने स्वयं भी प्रस्थान किया। उस समय राजा ने जाते हुए मार्ग में उन सोमप्रभ मुनि को देखा। उधर सोमप्रभ राजा ने सोमदत्त को दीक्षित हो गया जानकर पुरोहित का पद सोमशर्मा के लिए दे दिया था। उस समय प्रस्थान करते हुए राजा ने जब सोमदत्त मुनि को देखा तब उसने सोमशर्मा पुरोहित से पूछा कि प्रस्थान के समय में यदि दिग्म्बर मुनि दिखे तो क्या करना चाहिये? यह सुनकर सोमशर्मा ने सोमदत्त मुनि को अपना भाई जानकर जन्मान्तर के द्वेषवश राजा से

कहा कि इसे अपशकुन कारक समझकर दिशाओं के लिये बलि दे देना चाहिये और तत्पश्चात् आगे गमन करना चाहिये। इस बात को सुनकर राजा ने 'यह पाप है' कहते हुए अपने कानों के छेदों को दोनों हाथों से आच्छादित कर लिया। उस समय विश्वदेव नामक शकुन शास्त्र के जानकार ने उससे पूछा कि हे पुरोहित! दिग्म्बर साधु का दर्शन अपशकुन कारक है, यह किस शास्त्र में कहा गया है; मुझे शीघ्र बतलाओ। इस पर जब वह सोमशर्मा चुप रहा तब विश्वदेव ने राजा से कहा कि हे देव! दिग्म्बर साधु का दर्शन कल्याणकारी होता है। शकुनशास्त्र में भी ऐसा ही कहा गया है—

दिग्म्बर साधु, घोड़ा, राजा, मोर, हाथी और खैल; ये सब प्रस्थान और प्रवेश के समय में कल्याणकारी माने गये हैं।

फिर विश्वदेव बोला कि हे राजन्! आप यहां पर ही स्थित रहिए। यदि वह दूत पांच दिन के भीतर मदनावली और उस हाथी के साथ वापिस नहीं आता है तो मुझे शकुन का ज्ञाता ही नहीं समझना। तब राजा वहीं पर पड़ाव डालकर स्थित हो गया। तत्पश्चात् जैसा कि विश्वदेव ने कहा था, तदनुसार ही वह दूत राजपुत्री और उस हाथी को साथ लेकर वहां आ पहुंचा। इससे राजा को बहुत सन्तोष हुआ। तब वह विश्वदेव को पुरोहित बनाकर नगर के भीतर प्रविष्ट हुआ। इस घटना से सोमशर्मा को बहुत क्रोध आया। इससे उसने रात में उन सोमदत्त मुनि को मार डाला। इस प्रकार से शरीर को छोड़कर सोमदत्त मुनि सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त हुए। उधर जब राजा को यह किसी प्रकार से ज्ञात हुआ कि सोमशर्मा ने मुनि की हत्या की है तब उसने गर्दभारोहण आदि कराकर उसे देश से निकाल दिया। तब वह महान् कष्ट के साथ मरकर सातवें नरक को प्राप्त हुआ। पश्चात् वहां से निकलकर वह स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ। वह भी मरकर छठे नरक में गया। तत्पश्चात् वह महावन में सिंह हुआ और मरकर पांचवें नरक में गया। वहां से निकलकर वह व्याघ्र हुआ और फिर मरकर चौथे नरक में गया। तत्पश्चात् वह दृष्टिविष सर्प होकर तीसरे नरक में गया। फिर उसमें से निकलकर वह भेरुण्ड पक्षी हुआ और मरकर दूसरे नरक में गया। तत्पश्चात् वह शूकर हुआ और मरकर पहिले नरक में गया। वहां से निकलकर वह मगधदेश में सिंहपुर के राजा सिंहसेन और हेम प्रभा का पुत्र हुआ है। शरीर से अतिशय दुर्गन्ध निकलने के कारण उसका नाम अतिदुर्गन्ध कुमार प्रसिद्ध हुआ। समयानुसार वह वृद्धि को

प्राप्त हुआ।

एक समय उस नगर के समीप में विमल वाहन नाम के केवली आकर विराजमान हुए। सब राजा आदि भी उनकी बन्दना के लिए निकले। वहां असुर कुमारों को देखकर वह पूतिगन्ध कुमार मूर्छित हो गया। यह देखकर राजा ने केवली से उसके मूर्छित हो जाने का कारण पूछा। तदनुसार केवली ने उपर्युक्त हाथी आदि के भवों से सम्बन्ध रखने वाली पूर्वोक्त कथा को कहकर यह बतलाया कि पूतिगन्ध कुमार चूंकि चिरकाल तक नरकों में रहकर असुर कुमारों के द्वारा अनेक बार लड़ाया गया था, अतएव उनको देखकर यह मूर्छित हो गया है। तत्पश्चात् पूतिगन्ध ने केवली से अपने दुःख के नष्ट होने का उपाय पूछा। उसका उपाय केवली ने रोहिणी व्रत का अनुष्ठान बतलाया। शरीर सुगन्ध स्वरूप से परिणत हो गया। इससे अब उसका नाम सुगन्ध कुमार प्रसिद्ध हो गया। उधर सिंहसेन राजा ने उसके लिए राज्य देकर विमल वाहन केवली के समीप में दीक्षा ग्रहण करली। वह तपश्चरण करके मुक्ति को प्राप्त हुआ। सुगन्ध कुमार ने बहुत समय तक राज्य किया। तत्पश्चात् उसने विनय नामक पुत्र के लिए राज्य देकर समय गुप्ताचार्य के समीप दीक्षा ले ली। फिर वह तपश्चरण करके अच्युत स्वर्ग देव उत्पन्न हुआ।

इसी जम्बूद्वीप के अन्तर्गत पूर्व विदेह में एक पुष्कलावती नामको देश है। उसके अन्तर्गत पुण्डरीकिणी पुरी में विमलकीर्ति नामक राजा राज्य करता था। रानी का नाम पद्मश्री था। उपर्युक्त अच्युत स्वर्ग का वह देव वहां से च्युत होकर इन दोनों के अर्ककीर्ति नामका पुत्र हुआ। वह अपने मेघसेन मित्र के साथ क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर समस्त कलाओं में पारंगत हो गया। एक समय उस पुर (पुण्डरीकिणी) में उत्तर मथुरा से वसुदत्त और लक्ष्मीमती अपने पुत्र मुदित के साथ आये तथा दक्षिण मथुरा से धनमित्र और सुभद्रा अपनी पुत्री गुणवती के साथ आये। वहां पर मुदित और गुणवती का परस्पर विवाह सम्पन्न हुआ। उस समय मेघसेन ने वेदी के ऊपर गुणवती को देखकर राजपुत्र (अर्ककीर्ति) से कहा कि हे मित्र! तुम जैसे मित्र को पा करके भी यदि मुझे यह कन्या नहीं प्राप्त हो सकी तो तुम्हारी मित्रता से क्या लाभ हुआ? यह सुनकर अर्ककीर्ति ने मेघसेन के लिये उस कन्या का अपहरण कर लिया। तब वैश्यों के चिल्हने पर विमलकीर्ति ने उस मित्र के साथ अपने पुत्र अर्ककीर्ति को भी निकाल दिया। इस प्रकार वह अर्ककीर्ति वीतशोकपुर को चला गया। वहाँ विमलवाहन राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम

सुप्रभा था। उनके जयावती, वसुकान्ता, सुवर्णमाला, सुभद्रा, सुमति, सुब्रता, सुनन्दा और विमला नामकी आठ पुत्रियाँ थीं। इनके पिता ने पहिले अवधिज्ञानी मुनियों से पूछा था कि मेरी इन पुत्रियों का वर कौन होगा। उत्तर में उन्होंने बतलाया था कि जो चन्द्रक वैध्य को वेध सकेगा वह तुम्हारी इन पुत्रियों का पति होवेगा। इस पर राजा ने स्वयंवर मण्डप को बनकर चन्द्रक वैध्य को भी स्थापित कराया। इससे स्वयंवरमण्डप में राजाओं का समूह जमा हो गया। परन्तु उसमें से उस चन्द्रक वैध्य को कोई भी नहीं वेध सका। अन्त में अर्ककीर्ति ने उसको वेद्यकर उन पुत्रियों के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार वह सुखपूर्वक कालयापन करने लगा।

एक समय राजा आदि निर्वाण क्षेत्र की बन्दना करने के लिये विमल पर्वत पर गये। वहाँ आवश्यक जिनपूजनादि कार्यों को करके वे रात में वहाँ पर सो गये। उनमें से अर्ककीर्ति को चित्रलेखा विद्याधरी ने ले जाकर सिद्धकूट के शिखरपर स्थापित किया। उसको वहाँ ले जाने का कारण निम्न प्रकार है- वहाँ विजयार्थ पर्वत के ऊपर उत्तर श्रेणी में मेधपुर नाम का एक नगर है। वहाँ वायुवेग नामक राजा राज्य करता था। रानी का नाम गगनवल्लभ था। इनके एक वीतशोक नामकी पुत्री थी। एक दिन उसके पिता ने मन्दर पर्वत पर जाकर किसी दिव्यज्ञानी से पूछा था कि मेरी पुत्री का वर कौन होगा। उत्तर में उक्त दिव्यज्ञानी ने यह बतलाया था कि जिसके दर्शन से सिद्धकूट चैत्यालय का द्वार खुल जावेगा वह तुम्हारी पुत्री का वर होगा। परन्तु वहाँ इस प्रकार का कोई भी विद्याधर नहीं था। इसीलिए उक्त कन्या की सखी अर्ककीर्ति को सुनकर उसे कहाँ ले गई। उसके दर्शन से वह द्वार खुल गया। इसलिये अर्ककीर्ति ने उस वीतशोक के साथ विवाह कर लिया। पश्चात् उसने वहाँ अनेक विद्याओं सिद्ध किया। फिर वह वीतशोक को वही पर छोड़कर वीतशोकपुर आते हुए आर्यखण्डस्थ अंजनगिरिपुर को प्राप्त हुआ। वहाँ के राजा का नाम प्रभंजन और रानी का नाम नीलांजना था। इनके मदनलता, विद्युलता, सुवर्णलता, विद्युतप्रभा, मदनवेगा, जयावती और सुकान्ता नामकी सात पुत्रियाँ थीं। एक समय वे उद्यान वन से आकर नगर में प्रवेश कर ही रही थीं कि इन्हें एक हाथी बन्धन को तोड़कर उनकी ओर मारने के लिए आया। उसे देखकर सेवक आदि सब भाग गये। तब वे हाहाकार करने लगी। उनके आक्रन्दन को सुनकर अर्ककीर्ति ने उस हाथी को बाँध दिया और उन कन्याओं के साथ विवाह कर लिया। तत्पश्चात् वह वीतशोकपुर में जाकर मित्रादिकों से मिला। फिर उसने अपने

नगर (पुण्डरीकिणी) में जाकर और गुप्तरूप में स्थित रहकर राजा के मण्डप या हड्डप में स्थित सुपाड़ी फलों को बकरी लेंडी, पानों को अकौवा के पत्ते, कस्तूरी एवं केसर आदि को विष्ठा, स्त्रियों के दाढ़ी-मूँछे, पुरुषों के स्तन, हाथियों को शूकर, घोड़ों को गधे, पानी को गोमूत्र और अग्नि को शीतल बनाकर अनेक प्रकार के विनोद कार्य किये। इनकों देखकर राजा आदि को बहुत आश्चर्य हुआ। तत्पश्चात् दूसरे दिन उसने भील के वेष में नगर के जीवधन (पशुधन) का अपहरण कर लिया। तब घालों के कोलाहल से इस समाचार को जानकर उसके प्रतीकार के लिए राजा ने जो सेना भेजी थी उसको अर्ककीर्ति ने माया से नष्ट कर लिया। इस पर राजा को बहुत क्रोध आया। तब उसने स्वयं जाकर उसके साथ घोर युद्ध किया। पश्चात् मेघसेन ने राजा को बतलाया कि यह तुम्हारा पुत्र अर्ककीर्ति हैं। इस बात को सुनकर राजा विमलकीर्ति को बहुत हर्ष हुआ। तब उसने शरीर से नम्रीभूत हुए अपने उस पुत्र का आलिंगन किया। फिर वे दोनों महाविभूति के साथ नगर में प्रविष्ट हुए। इसके पश्चात् अर्ककीर्ति अपनी पूर्वविवाहित पत्नियों को ले आया। और सुख से रहने लगा।

किसी समय विमलकीर्ति राजा दर्पण में अपना सुख देख रहा था। उस समय उसे अपने शिर के ऊपर श्वेत बाल दिखा। उसे देखकर उसके हृदय में वैराग्यभाव जागृत हुआ। तब उसने अर्ककीर्ति के लिए राज्य देकर सुब्रत मुनि के निकट में दीक्षा ग्रहण कर ली। अन्त में वह तप को करके मुक्ति को प्राप्त हुआ। उधर अर्ककीर्ति सकलचक्रवर्ती (छह खण्डों का अधिपति) हो गया। उसने बहुत समय तक राज्य किया। तत्पश्चात् उसने अपने पुत्र जितशत्रु को राज्य देकर चार हजार भव्य जीवों के साथ शीलगुप्ताचार्य मुनि के पास में दीक्षा ले ली। अन्त में वह शरीर को छोड़कर अच्युतेन्द्र हुआ है। वह इस समय स्वर्ग में ही है। भविष्य में वह वहाँ से आकर के इस हस्तिनापुर में वीतशोक राजा का पुत्र अशोक होगा और तू यहाँ पुण्य का उपार्जन करके स्वर्ग में देवी होगी। फिर वहाँ से आ करके चम्पापुर में मघवा राजा की पुत्री रोहिणी होती हुई उस अशोक की पटरानी होगी। इस प्रकार वह पूतिगन्धा पिहितास्रव मुनि से उपर्युक्त वृतान्त को सुनकर उन्हें नमस्कार करती हुई अपने घर को वापिस गई। वह रोहिणी उपवासविधि का उद्यापन करके सुगन्धित शरीर बाली हो गई। फिर उसने पूर्वोक्त आर्या के निकट में दीक्षा ले ली। अन्त में वह तपश्चरणपूर्वक संन्यास के साथ शरीर को छोड़कर ईशान स्वर्ग के अन्तर्गत उस अच्युतेन्द्र से

सम्बन्ध विमान में देवी आकर रोहिणी हुई है। राहिणीब्रत के अनुष्ठान से उपर्जित पुण्य के प्रभाव से यह शोक को नहीं जानती है।

अब मैं तुम्हारे पुत्रों के भवों को कहता हूं, सुनो उत्तर मथुरा में सूरसेन नामका राजा राज्य करता था। रानी का नाम विमला था। इनके एक पद्मावती नामकी पुत्री थी। इसी नगर में एक अग्निशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था उसकी पत्नी नाम सावित्री था। इनके शिवशर्मा, अग्निभूति, श्रीभूति, वायुभूति, विशाखभूति, सोमभूति और सुभूति नाम के सात पुत्र थे। वे एक समय भिक्षा मांगने के लिए पाटलीपुत्र गये थे। वहां उस समय सुप्रतिष्ठ नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम कनकप्रभा था। इनके एक सिंहरथ नामका पुत्र था। इसको देने के लिए कोई उस पद्मावती पुत्री को वहां ले आया था। इन दोनों के विवाह के ठाट-वाट को देखकर उक्त शिवशर्मा आदि सातों ब्राह्मण पुत्रों ने विचार किया कि देखो हम लोग भीख मांगकर उदरपूर्ति करते हैं, हमारा जीना व्यर्थ है। इस प्रकार विचार करते हुए उन्हें वैराग्यभाव उत्पन्न हुआ। तब उन सब ने सीमन्धर स्वामी के समीप में दीक्षा ले ली। अन्त में वे समाधिपूर्वक शरीर को छोड़कर सौधर्म स्वर्ग को प्राप्त हुए। पूर्वोक्त पूर्तिगन्धा के पिता के एक भलवातक नामका दासीपुत्र था। यह विहितास्त्रव मुनि के समीप में जैन हो गया था। वह मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ था। इस प्रकार पूर्वोक्त सात ब्राह्मण पुत्र और यह भलवातक ये आठों वहां से च्युत होकर क्रम से तुम्हारे आठ पुत्र हुए हैं।

अब अपनी पुत्रियों के भवों को सुनों यही पर पूर्वविदेह में स्थित विजयार्थ पर्वत की दक्षिण श्रेणी में अलका पुरी है वहां पर मस्तेव राजा राज्य करता था। रानी का नाम कमलश्री था। इनके पद्मावती, पदमगन्धा विमलश्री और विमलगन्धा नामकी चार पुत्रियां थीं। उन चारों ने गगनतिलक चैत्यालय में समाधिगुम मुनि के पास में पञ्चमी के उपवास के ग्रहण किया था। किन्तु वे नियमित समय तक उसका पालन और उद्यापन नहीं कर सकीं। कारण यह कि उन चारों की मृत्यु अकस्मात् बिजली के गिरने से हो गई थी। फिर भी वे उस प्रकार से मरकर स्वर्ग में देवियां हुई और तत्पर्चात् वहां से च्युत होकर वे तुम्हारी पुत्रियां हुई हैं। इस प्रकार अपने सब प्रश्नों के उत्तर को सुनकर वह अशोक उन दोनों मुनियों को नमग्नाग करके नगर में वापिस आ गया। उसने इन पुत्रियों को श्रीपाल के पुत्र भूपाल के लिए देकर बहुत समय तक राज्य किया। एक समय वह बिखरते मेघ को देखकर भोगों

से विरक्त हो गया। तब उसने अपने पद पर वीतशोक पुत्र को प्रतिष्ठित करके श्री वासुपूज्य जिनेन्द्र से समवसरण में बहुतों के साथ दीक्षा ले ली। वह वासुपूज्य तीर्थकर का गणधर हुआ। रोहिणी ने कमल श्री आर्यिका के पास दीक्षित होकर बहुत तप किया। अन्त में वह शरीर को छोड़कर अच्युत स्वर्ग में देव हुई। अशोक मुनि मुक्ति को प्राप्त हुए। उसी समय से लेकर यहां के भव्य जीव रोहिणीब्रतविधि के उद्यापन के समय वासुपूज्य जिनेन्द्र की प्रतिमा के समीप में वेदी पर आठ पुत्र और चार पुत्रियों के साथ अशोक व रोहिणी की आकृतियों को कराते हैं तथा उनके चरित्र की पुस्तकों को लिखाकर प्रदान करते हैं। इस प्रकार पूर्तिगन्ध राजपुत्र और दुर्गन्धा वैश्यपुत्री ये दोनों भोगों की अभिलाषा से नियत समय तक प्रोष्ठध को करते इस प्रकार की विभूति को प्राप्त हुए हैं। फिर भला जो भव्य जीव कर्मक्षय की अभिलाषा से उक्त ब्रत का अनियत समय तक परिपालन करता है वह क्या अनुपम सुख का भोगता नहीं होगा? अवश्य होगा। (पेज न. 214) (पुण्यास्त्रवकथाकोशम्)

ईर्ष्याभ्यक्रोधपरिक्षतेन लुब्धने रुदैन्यपीडितेन्।
प्रदेषयुक्तेन च सेव्यमानमनं च सम्यक् परिणाममेति॥
ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ, चिन्ता, दैन्य ताथ देष से पीड़ित मनुष्यों द्वारा खाया गया भोजन ठीक से नहीं पचता। क्रोधादि भावों से शरीर के विभिन्न ग्रन्थियों से विभिन्न विषाक्त रसायनिक द्रव्य झारता हैं। जिससे शरीर, मन, आहार, पाक-क्रिया आदि के ऊपर कु-परिणाम डालता हैं।

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुभ्यहर्षपुर्वी मनोऽभिधातो विषभाश्च चेष्टोः॥
विरुद्ध (संयोगादि विरुद्ध) दुष्ट तथा अपवित्र भोजन करने से देवता, गुरु या माता-पिता और ब्राह्मणों का अपमान करने से, अत्यधिक हर्ष के कारण मन पर प्रभाव पड़ने से, शरीर की विषम चेष्टाओं या मन पर आघात लगने से उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है।

बहुद्-बारह भावना

रथयिता-“मुनि गुप्ति नंदी”

दोहा — नमन करूँ जिनदेव को निज मुक्ति के काज।
द्वादश अनुप्रेक्षा लिख्यूँ सफल करो मम काज॥

मंगला चरण

सुखमय-दुखमय दुखमय-सुखमय जीवन है सारा।
झुठा है सब तेरा मेरा मिथ्या जग सारा।
पर की सेवा करते- करते बीती उमर सारी।
द्वादश अनुप्रेक्षा का चिन्तन है जग उपकारी॥

शंभु छंद

अनित्य भावना

ज्यों रवि उदय औ शशि अस्त त्यों काल हमारा बीत रहा।
गर्भ जन्म बचपन और यौवन धीरे-धीरे सरक रहा॥
अब आन खड़ा है बुढ़ापा और मौत भी सर पर आन खड़ी।
घड़ी की टिक-टिक जैसा जग अस्थिर है सब नर अरु नारी॥
सारा वैभव क्षणभंगुर है काञ्चन लक्ष्मी सब चञ्चल है।
सब इन्द्र धनुष सम नाशवान आतम शाश्वत अविनश्वर है॥

अशरण भावना

कोई मात-पिता रक्षक माने कोई माने अपने सुत नारी।
कालबलि जब आन खड़ा तब दूर भगे सब सुत नारी॥
मेरे दुःख को कोई जाने नहीं सब अपनी-अपनी गाते हैं।
इसलिए स्वार्थ वश मंत्र तंत्र सब वैदों को बुलवाते हैं॥
किन्तु तीर्थकर के रहते द्वारिकापुरी भी भस्म हुई।
हलधारा भाई था फिर भी दुस्सह कृष्ण की मौत हुई॥
है कोई गण नहीं इस जग में शरणागत वत्सल आतम है।
बस आज शरण लो इक उसका निज आतम ही परमातम है॥

संसार भावना

जन्म-मरण और व्याधि बुढ़ापा धीरे-धीरे आते हैं।
मित्र पति सुत नारी सभी गिर्धों सम नोंचकर खाते हैं॥
द्रव्य क्षेत्र क्षण (काल) भाव-भव यह पञ्च परावर्तन जग में।
नरक निगोद मनुज तिर्यच और देव यही संसार कहे॥
छेदन-भेदन ताड़न-मारन नारक पशुगति में है भारी।
रागद्वेष अरु दुख कलह हैं मनुष देव गति में भारी॥
यह चतुर्गति है अनेक विपत्तिमय कहीं ना सुख दिखता इसमें।
बस पंचम गति है एक गति जहाँ सिद्ध ज्ञान धन नित्य रमें॥

अन्यत्व भावना

जब देह भी मेरी अपनी नहीं तब बन्धुजन कैसे होवें।
जब खाल उतारे निज तन की तब रोम कूप कैसे तिष्ठे।
है आत्मद्रव्य तो निज चेतन पुद्गल जड़ मूर्तिक रूपी है।
मेरे उसके गुण पृथक-पृथक फिर उससे कैसी मैत्री है।
है सिद्ध प्रभु निज गुण धारक मैं भी निज गुण का स्वामी हूँ।
मैं एक अखण्ड नित ज्ञान पिण्ड मैं भावी अन्तरयामी हूँ।
मैं आया अलग ही इस जग में अरु एक अलग ही जाऊँगा।
जब तक पर का संयोग रहे तब जग में गोते खाऊँगा॥

एकत्व भावना

मैं आया अकेला भूतल पर मैं एक अकेला जाऊँगा।
धन दौलत अपनी मानी थी पर कोई पास न पाऊँगा।
जहाँ एक संघ में विविध मुनि बहु देश-देश से आते हैं।
रहते सब संघ में साथ-साथ फिर भी एकाकी ध्याते हैं।
किन्तु धार्मिक वात्सल्य मरी यें संसारी जन स्वार्थी हैं।
स्वारथ से सब मिल जाते हैं औ स्वारथ बिना एकार्थी हैं।
सुख में सब साथी बनते हैं दुःख में सब दूर भगाते हैं।
एक आतम का जो ध्यान धेरे वो भव सागर तिर जाते हैं॥

अशुचि भावना

यह अशुचि अपावन नाशवान रज वीरज से निर्मितनु है।
दो भोगी जन सम्भोग करें यह उनके भोगों का फल है॥
वे निशदिन भोग में रत रह अधिकारी सबके बनते हैं।
भव कैदी जब कोई जन्म लिया मालिक उसके बन जाते हैं॥
चाहे जितना केशर घिर लें और चन्दन खूब लगाते हैं।
पर देह में लगते ही वो अति दुर्गंध धृणित हो जाते हैं।
इस रत्नत्रय से निज आत्म पावन शुचि निर्मल होवेगा।
और ज्ञान की गन्ध उड़े ऐसी हर कण को सुवासित कर देगा॥

“आस्रव भावना”

जहाँ नाँव में जैसा छिद्र रहे वहाँ जल भी वैसा आता है।
आवेग को चालू करते ही तारों में विद्युत आता है॥
तैसे ही छिद्र यह रागद्रेष नित कर्मास्रव करवाते हैं।
स्निग्ध रुक्ष गुण पुद्गल के इनसे ही कर्म खिंच आते हैं॥
मिथ्यात्व बंध का माध्यम है प्रमाद कथाय उविरति योग।
यह निज वैभव के लुटेरे है बहु बार लगावे भ्रमण रोग॥
और मात-पिता भाई-बन्धु सब मोह जाल में जकड़ रहे।
यह सब आस्रव के कारण हैं मेरा अक्षय सुख लूट रहे॥

संवर भावना

ज्यों ही आवेग को बन्द करते तारोंसे विद्युत जाता है।
कूलर पंखा, हीटर, लाईट सब क्रियाहीन हो जाता है॥
त्यों ब्रत, गुप्ति, समिति से निज रागद्रेष जर-जर होता।
और रागद्रेष जर-जर होते कर्मों का नित संवर होता॥
स्निग्ध रुक्ष गुण पुद्गल के उनसे ही स्कन्ध बनता है।
इन दोनों के कृश होते ही परमाणु निर्मल बनता है।
आत्म का आत्म से ध्याओ बस ध्यान धरो निज आत्म का॥
बाह्य विकल्प हटें निज से तब संवर हो वसु कर्मन् का।

निर्जरा भावना

जो हेतु कहे जग संवर के वे हेतु निर्जरा के भी हैं।
कर्मों के क्रम से झड़ने को ही द्रव्य निर्जरा कहते हैं॥
धन वैभव को चञ्चल जानों और पुण्य पाप नश्वर मानो।
चक्री सुर नारायण पद में हेतु इक पुण्य उदय जानो॥
जब तक निज पुण्य उदय में है धनदेवी तब तक निज संग है।
क्षय होते पुण्य हमारे ही सपनों समान गुम होते हैं।
पुण्य सम्पदा के चक्र के मोह मुमुक्षु न करता है।
मैं करु निर्जरा मुक्ति पाऊँ यही भावना भाता है॥

लोक भावना

कटि प्रदेश पर बाहु रखे पग फैलाकर मानव हो खड़ा।
इस भाँति है यह तीन लोक प्राणी इसमें ही भटक रहा।
सातों नरकों में दुःख अति हम क्या इसको कह पायेंगे।
नरकी दुःख सह बहु भाँति चाहकर भी मर न पायेंगे।
तिर्यच गति में दुःख भारी सर्दी गर्मी क्षुधा मारी।
यदि धर्म नहीं मनुज गति में तो यह आयु भी दुःख वाली।
स्वर्गों में मानसिक पीड़ा है त्रैलोक्य दुःखों का सागर।
निज आत्म ज्ञानी को त्रिलोक अक्षय सुख का रत्नाकर॥

बोधिदुर्लभ भावना

दुर्लभ है निगोद से स्थावर उससे भी दुर्लभ त्रस काया।
जिसको हर पल सुर गण तरसे अति दुर्लभ वो नरभव पाना।
ऐसे नरभव को खो मोही कोंडी में रत्न गवांते हैं।
देवेन्द्र तरसता है जिसको वो नरतन मूर्ख गवांते हैं।
उत्तम शरीर मिले यत्नों से दुर्लभ है साधु संग पाना।
श्रावक कुल पाना दुर्लभ है दुर्लभ सम्यक, संयम पाना।
रत्नत्रय पाना अति कठिन मुनि दीक्षा भाव मुद्रित है।
मुनिव्रत पालन अरु शुद्ध भाव बोधिलब्धि अति दुर्लभ है।

धर्म अनुप्रेक्षा

अनेकान्तमय धर्म यही सब को सुखदाता है जग में। स्याद्वाद अहिंसामय यह एक धर्म ही इस जग में। सारी शरणों में उत्तम यह बस धर्म शरण ही सुखदायी। इसमें परमेष्ठी पंच शरण जिनधर्म शरण ही शिवदायी। इस जैन धर्म के प्रतिपादक हैं वीतराग सर्वज्ञ वीर। जिनकी है दोष रहित वाणी हमकों पहुंचावे भव के तीर। पट द्रव्य तत्व सातों का ही इसमें सम्यक विवेचन है। “गुर्सि” बारह भावन भाकर पा जावे आतम विवेचन है।

आदर्श जीवन

व्यक्ति को प्रातःकाल दायें करवट को ऊपर करके प्रभु का स्मरण करते हुए उठना चाहिए। पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुंह करके पद्मासनादि में बैठकर अंजुलि को जोड़ना चाहिए। अंजुली में सिद्ध-शिला की स्थापना करके सिद्ध भगवान का ध्यान तथा पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए। णायोकार मंत्र या कोई उत्तम मंत्र का जाप 9 या 27 अथवा 108 बार जाप करना चाहिये। माता-पितादि अभिभावकों के पैर छूकर प्रणाम (जय जिनेन्द्र) करना चाहिये। अन्य का भी यथायोग्य अभिवादन, सम्मान (हाथ जोड़कर जय जिनेन्द्र) करना चाहिये। शौच क्रिया करके छने हुए जल से, मिट्टी से गुदा स्थान, (मल द्वारा) हाथ, पैर तीन-तीन बार धोना चाहिए। दान्तोन से दाँत शुद्ध करना चाहिये। जिन्हा को भी साफ करना चाहिये। अच्छी तरह कुल्ला करना चाहिये। पूजादि के लिए छने हुए जल से स्नान करना चाहिये। क्योंकि बिना छने जल में सूक्ष्म जीव होते हैं। स्नान में हिंसात्मक साबुनादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

स्नान के बाद शुद्ध वस्त्र पहन कर मंदिर जाना चाहिये। साथ में कुछ न कुछ शुद्ध पूजा-द्रव्य लेकर जाना चाहिये। “देव दर्शन” परिच्छेद में वर्णित विधि के अनुसार देव दर्शन, पूजादि करना चाहिये। भगवान् के सामने पाँच मुष्टि (पुँज) चाँचल चढ़ाकर गवासन में बैठकर नमस्कार करना चाहिये। ‘णमो अरिहंताणम्’ बोलकर मध्य में पहला पुँज, ‘णमो सिद्धाणं’ बोलकर ऊपर में पुँज ‘णमो आइरियाणं’ बोलकर

दाये में पुँज, ‘णमो उवज्ञायाणं’ बोलकर नीचे में पुँज, ‘णमो लोए सब्व साहूणं’ बोलकर बायें में पुँज चढाना चाहिये।

साधु के सामने सम्पर्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यग्चारित्राय नमः बोलकर क्रम से 3 पुँज चढाना चाहिये। जिनवाणी के सामने क्रमशः ‘प्रथमानुयोगाय नमः, करणानुयोगाय नमः, चरणानुयोगाय नमः, द्रव्यानुयोगाय नमः’ बोलकर चार पुँज अक्षत चढाना चाहिये।

देवदर्शन के बाद विनय से विधि के अनुसार शास्त्र-स्वाध्याय करना चाहिये। शास्त्र के मध्य से कोई पृष्ठ निकाल कर यद्वा-तद्वा पढ़ना नहीं चाहिये। सच्चे गुरु को नमोस्तु कहकर गवासन में बैठकर प्रणाम करना चाहिये। बैठते समय मृदु वस्त्र से जीवों की रक्षा करते हुए बैठना चाहिये। आर्थिका को वन्दामि कहकर प्रणाम उपरोक्त विधि से करना चाहिये। ऐलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका को इच्छामि कहकर प्रणाम करें। ब्रह्मचारी को वन्दना कहकर प्रणाम करें। अन्य सामान्य व्यक्तियों को ‘जय जिनेन्द्र’ कहकर यथायोग्य सम्मान करें। पूजादि करके मुनि आदि को भक्ति से विधि पूर्वक आहारादि देवे। ‘आहार दान’ ‘आहार दान विधि’ परिच्छेद के अनुसार दे। तदुपरान्त गृहपालित पशु, सेवक, वृद्ध, माता, पिता, रोगी, दुखित को भोजनादि देकर स्वयं भोजन करे।

भोजन शुद्ध सात्त्विक, ताजा प्रासुक (मर्यादित) होना चाहिये भोजन भूख लगने पर ही दिन में योग्य समय में सूर्य के पर्याप्त प्रकाश में करें। स्वच्छता से हाथ, पैर मुँह धोकर कुल्ला कर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके मन को शाँत करके मौन पूर्वक प्रशस्त स्थान में भोजन करें। भात, रोटी आदि खाद्य को पीना चाहिये एवं पानी आदि पानीय को खाना चाहिये अर्थात् ठोस चीज को इतना चबाना चाहिये, जिससे भोजन पानी के जैसे पीने में आवे एवं पानी को धीरे-धीरे पीना चाहिये। भोजन को 32 दांत की संख्या बराबर चबाना चाहिये। पहले थोड़ा सा पानी (आचमन) पीना चाहिये। उसके बाद मीठा ठोस भोजन करना चाहिए। मध्य में नमकीन आदि भोजन करना चाहिये। मध्य-मध्य में थोड़ा-थोड़ा पानी पीना चाहिये। पहले या अंत में ज्यादा पानी नहीं पीना चाहिये। विपरीत रस का सेवन नहीं करना चाहिए जैसे-दूध के साथ या ठीक पहले या बाद में घड़ा रस, फल या फलरस के बाद पानी, शीतल भोजन या पानी के बाद गरम या गरम के बाद

शीतल भोजन या पानी। भोजन के अंत में इलाइची, सौफ, लौंग का सेवन करना चाहिये। किन्तु धूमपानादि नहीं करना चाहिये।

भोजन के बाद हाथ, पैर मुँह अच्छी तरह से धोना चाहिये। भोजन के बाद हाथ को धोकर तथा हाथ को परस्पर में रगड़ कर दोनों आँख के ऊपर धीर-२ से हाथ से रगड़ना चाहिये। इससे दृष्टि शक्ति, इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है एवं रोग नहीं होता है। भोजन के बाद प्रभु स्मरण करके उठना चाहिये। शांत गंभीर मुद्रा में कुछ समय बैठना चाहिये इसके अनन्तर 100 कदम धीर-धीर चलना चाहिये। भोजन के बाद मूत्रत्याग (पेशाब) करना चाहिये। भोजन के बाद कठिन कार्य, तेलमालिश, स्नानादि नहीं करना चाहिये। अनन्तर चित्त होकर (सीधे लेटकर) 9, दायें करवट 18 एवं बायें करवट 27 श्वासोच्छ्वास प्रमाण काल विश्राम करना चाहिये। विश्राम के बाद योग्य अध्ययन, ध्यान चर्या, लेखन, मनन, परोपकारादि कार्य करना चाहिये। गृहस्थ हो तो धर्मानुसार न्यायोचित मार्ग से अपना गृहस्थ व्यापारादि कार्य करना चाहिये। यदि गृहस्थी के व्यापारादि कार्य अन्याय पूर्ण उपाय से करते हैं तो अन्य मंदिरादि के धार्मिक कार्य केवल बाह्याद्म्बर, होंग, रुढ़ि रह जाता है। धर्म तो सदा, सर्वदा, सर्वत्र धारण करने योग्य है, न कि केवल मंदिर में। मंदिर तो धर्मालय है जैसे- विद्यालय। विद्यालय में विद्या नहीं होती वहाँ जाकर विद्या अध्ययन करते हैं एवं जीवन में उतारते हैं। वैसे ही धर्मालय में जाकर धर्म-अध्ययन करना है एवं जीवन के हर क्षण में हर कार्य में उतारना है।

पूर्ण जीवन का, वर्ष का, दिन का, घंटा का तथा प्रतिक्षण का उद्देश्य एवं कार्यक्रम होना चाहिए। जीवन का सर्वोपरि अंतिम लक्ष्य शाश्वतिक सुख, अनंतज्ञानादि ही होना चाहिए। उसको ही केन्द्र बिन्दु करके प्रत्येक कार्य होना चाहिए। निरुद्देश्य गमन केवल भटकाव है।

व्यर्थ में समय, शक्ति, ज्ञान, धन, साधनादि का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। शक्ति के दुरुपयोग से विनाश है तो सदुपयोग से विकास। हर समय स्वयं को पवित्र, उदात्त, उदात्त कार्य में संलग्न रखना चाहिये। क्योंकि खाली मस्तिष्क भूतों का डेरा बन जाता है। किसी की भी बात को या किसी भी विषय को बिना विचार किये, बिना निर्णय किये न स्वीकार करना चाहिये, न निंदा, प्रशंसा करना चाहिये। संशय से विनाश होता है परन्तु बिना परीक्षण, निरीक्षण के विश्वास करने से भी विनाश

होता है। संसार के अधिकांश प्राणी अधिकांशतः स्वार्थी, मोही, अज्ञानी, अन्धविश्वासी, रुढ़िवादी, लौकिकाचारी होते हैं। अतः सावधानी से, साम्यभाव से, साक्षीभाव से (तटस्थ भाव से) कार्य करना चाहिये। स्वयं यदि सत्यमार्ग में चल रहे हैं तो दूसरों से अप्रभावित होना चाहिये। दूसरों से प्रभावित होकर सत्य मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि सत्य ही सार्वभौम, सर्वशक्तिवान् है।

प्रत्येक समय आत्म विश्लेषण, आत्म अन्वेषण, आत्मपरिशोधन, करना चाहिये। भावों का लचीला, अभंगुर निर्मल रखना चाहिए। दोष का परिज्ञान होते ही त्याग करने तथा गुण ग्रहण का पुरुषार्थ करना चाहिए। छोटे से भी स्वकर्तव्य को सम्प्रगता से, उत्तम विधि से करना चाहिये। वर्तमान का कर्तव्य अगले क्षण के लिए नहीं छोड़ना चाहिये।

जीवन को सदाचार, सत् विश्वास, सम्यक् ज्ञान, तेजस्वी व्यक्तित्व, समयानुबद्ध, अनुशासित, कर्तव्यनिष्ठ, सत्यग्राही, निर्भय, निर्द्वन्द्व, निश्चल, निर्मल, सरल-सहज आदि गुणों से समुन्नत, महिमा मण्डित गौरव पूर्ण बनाना चाहिये। जो व्यवहार स्वयं के लिए उचित न लगे, वह व्यवहार दूसरों के लिए कभी भी न करें। स्व उपकार के साथ-साथ दूसरों का भी उपकार करें। यदि दूसरों का उपकार नहीं बन पा रहा है तो कम से कम अपकार नहीं करना चाहिए। प्यासे को संभव हो तो पानी पिलाओ, नहीं तो कम से कम विष तो मत पिलाओ।

कुछ क्षण भी प्रकाश देने वाला दीपक, उस दीपक से श्रेष्ठ है, जो चिरकाल तक केवल धुँआ देता है। वैसे ही प्रकाशमय छोटा सा जीवन भी, उस जीवन से श्रेष्ठ है, जो चिरकाल तक केवल पाप का धुँआ फैलाता रहता है। अतः प्रत्येक प्राणी को आत्म दीपक एवं पर दीपक बनना चाहिये।

रात्रि को प्रभु स्मरण, आत्मरमण पूर्वक पूर्व, दक्षिण या पश्चिम दिशा की ओर सिर करके स्वच्छ, जीवों से रहित स्थान में विश्राम के लिये शयन करना चाहिये। शय्या समतल होनी चाहिये। शयन के पूर्व हाथ, पैर, मुँह धोकर शयन करना चाहिए। जब तक निद्रा नहीं आती है तब तक सत् चिंतन करना चाहिये। इससे निद्रा अच्छी आती है, दुःस्वप्न नहीं आते हैं। बायें करवट सोना चाहिये। सोते समय शरीर पर कसे हुए बस्त्र नहीं होना चाहिए तथा मुँह को पूर्ण ऊपर तक बस्त्र से ढाँक कर नहीं सोना चाहिए।

उपरोक्त विधि से दैनिक कार्य करने वाला सुखमय जीवन यापन करता है।

1. तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हणाणं तवेण संजुत्तो लहड़ णिव्वाणं॥

तप से रहित ज्ञान एवं ज्ञान से रहित तप कार्यकारी नहीं है।
इसलिये ज्ञान एवं तप से संयुक्त जीव निर्वाण को प्राप्त करता है।

2. णाणेण जाणड़ भावे, संदणेण य सद्वहे।
चरित्तेण निणिणहाड़ तवेण परिसुज्जड़॥

भावों को ज्ञान से जानता है, दर्शन से श्रद्धान करता है, चारित्र
से कर्मों को नष्ट करता है एवं तप परिशुद्ध होता है।

3. दानं दुर्गतिनाशाय शीलं सद्वति कारणम्।
तपः कर्म विनाशाय, भावना भवनाशिवी॥

दान से दुर्गतिनाश होता है, शील से सद्वति मिलती है, नप कर्म
विनाश के लिये हैं, भावना भव (संसार) को वाश करती है।



धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन द्वारा प्रकाशित आगम सम्बद्ध पुस्तकें
पढ़िये, पढ़ाइये और सच को पहिचानियें।

